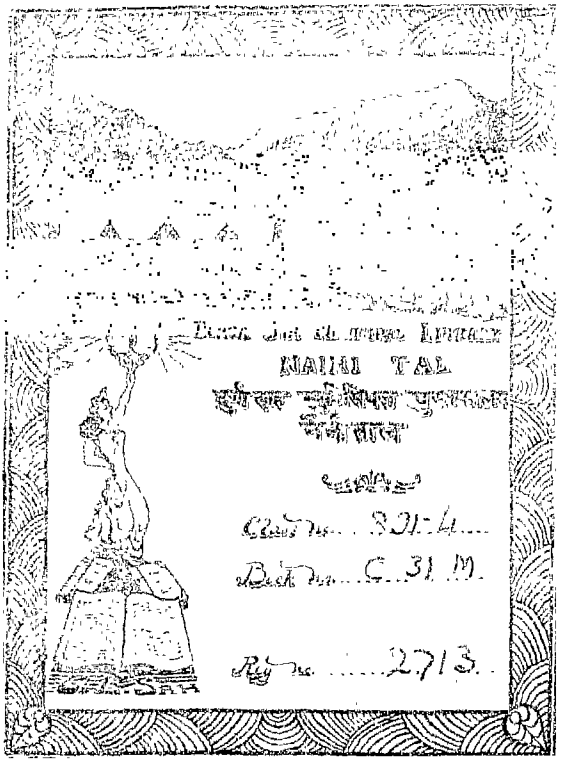
Banna Jee ki mauj Lunaur
NAINI TAL
Class No. 891.4
Book No. C 31 M
Reg No. 2713

मौत के पंजे में ज़िन्दगी की कराह

समर्पण

उनको, जिनके रोम-रोम में वह आग धधक रही है जिसमें मैं जीवित जल रहा हूँ।

लेखक

'सर्वाधिकार नितान्त सुरक्षित'

चतुरसेन-साहित्य का एक सौ आठवाँ ग्रन्थ
समाज-विज्ञान धारा की ग्यारहवीं पुस्तक

मौत के पंजे में ज़िन्दगी की कराह

लेखक
आचार्य चतुरसेन

प्रकाशक
ज्ञानधाम-प्रतिष्ठान
दिल्ली (शाहादरा)

विक्री केन्द्र—
दिल्ली काशी पटना

तीन रुपया

प्रकाशक
ज्ञानधाम-प्रतिष्ठान
दिल्ली (शाहदरा)

प्रथमवार, दिसम्बर १९५२

मुद्रक
चिनगारी प्रेस,
बनारस-१.

नागरिकता के विकास ने मनुष्य को मानव-रक्त-पान का चस्का लगाया और इस रक्तपान से अभिषापित कुछ अति-मनुष्य अदम्य दर्प और असह्य तेज से असहिष्णु हो रक्तस्नान की ठान बैठे—यही उनका मानव-धर्म बन गया।

वे, रक्तस्नान करने वाले रक्त स्नान कर चुके। उनका श्राद्ध तर्पण भी हो चुका, परन्तु रक्तपान के अभ्यस्त नर अब भी भयभीत हो अमानुप काम करने पर तुले बैठे हैं। इन्होंने और उन्होंने हिरण्य के मोह में फँसाकर वैज्ञानिकों और कलाकारों को अपना वाहन बना, विज्ञान और कला दोनों को कलंकित कर दिया है।

अब वे, जो अपनी करनी कर चुके और वे, जो कर रहे हैं, निश्चय ही अतीत के प्राणी हैं। अब उनका लोहू और लोहे से भरा हुआ युग बीत चुका। वे नवयुग निर्माण का दुःसाहस कर रहे हैं, परन्तु यह काम उनके बूते का नहीं—यह काम हम करेंगे—हम और आप।

युद्ध का देवता मर गया। लोहू और लोहा जिनका नारा था वे मरण-शरण हुए। साम्राज्यवाद का महल ढह गया; और उसी के साथ पूँजी, सत्ता और अधिकार खत्म हो गए।

अब 'विराट पुरुष' का जन्म हो चुका है, विज्ञान और कला उसे वरासत में मिले हैं। आओ, हम उसे कर्तव्य की वेदी पर प्रतिष्ठित करके संस्कृति की सम्पदा से सम्पन्न करें, जिससे वह अपने जीवन में विश्व की सबसे बड़ी इकाई होकर मनु-कुल को अभय करे।

चतुरसेन

वर्ण्य-विषय

१—या तो मनुष्य मनुष्य को खाय—या वह भूखों मर जाय ... १
२—'देश' खूनी देवता ६
३—'राष्ट्रीयता' मनुष्य के खून के गारे में खड़ी की गई इमारत १८
४—'स्वाधीनता' गुलामों की आवाज़ ३२
५—'धर्म' धोबी का कुत्ता ३६
६—'ईश्वर' घिसा पैसा ४५
७—'देवता' ईश्वर के भाई भतीजे ६१
८—'श्रद्धा' अन्धी बुढ़िया ६६
९—'दार्शनिक' अक्ल के आशिक मजनू ७८
१०—'विज्ञान' मनुष्य का मुक्तिदाता या मृत्यु दूत ... ८५
११—'स्त्री' निन्दा दौलत १०३
१२—'गणराज्य' जनता का खून चूसने वाला खटमल ... ११८
१३—'साहित्य' विलासी दुराचार १२४
१४—'मनुष्य' गान्धी का अपूजित देवता १३०
१५—'सत्य' जनतन्त्र की सीधी राह १५३
१६—'अहिंसा' सत्य की राह दिखाने वाली पथदर्शिका ... १५६
१७—युद्ध का देवता मर गया १६२

———

१

या तो मनुष्य मनुष्य को खाय या वह भूखा मर जाय

अब, सारी ही मनुष्य जाति भूखों मर जाय, इसके सरंजाम पैदा हो गए हैं। या तो मनुष्य मनुष्य को खाय या वह भूखों मर जाय। अकाल, महामारी, और युद्ध अब इस मानव विनाश के लिये काफ़ी नहीं साबित हो रहे हैं यद्यपि मनुष्य ने इनमें विज्ञान का सहारा लगा कर इनकी विनाशक शक्ति को बहुत बढ़ा दिया है। आज सारे संसार के करोड़ों स्त्री-पुरुष रात दिन बच्चे पैदा करने के काम में जुटे हुए हैं। और वे प्रतिदिन लाखों बच्चे उत्पन्न कर रहे हैं। उन्हें इस बात की कोई चिन्ता नहीं है कि वे क्या खाएँगे और कहाँ रहेंगे। दुनियाँ की कोई सरकार उनके इस उत्पादन में कोई रोक थाम नहीं करती। इन, अन्धाधुन्ध और बेतरतीबी से पैदा हुए मनुष्यों की तबाह ज़िन्दगी बड़ी ही निकृष्ट, बड़ी ही घृणास्पद और हद दर्जे करुण है। उनकी आदतों में कुछ ऐसी खराबियाँ आ गई हैं जो संसार के किसी भी जीवजन्तु में नहीं हैं। वे झूँठ बोलते हैं, कपटी हो गए हैं, बेईमान हैं, दग़ाबाज़ हैं, चोर हैं व्यभिचारी हैं। वे नशा करते हैं, गन्दी गालियाँ बकते हैं, एक दूसरे का गला काटते हैं। आज मनुष्य ही मनुष्य का सबसे बड़ा खतरा बन गया है। मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वह बुद्धिमान है, उसने अपने सारे बुद्धिबल को अपने विनाश में लगाया हुआ है, और अब विनाश ने उसे चारों ओर से घेर लिया है। ज़िन्दा रहने की उसकी सारी चेष्टाएँ अब हास्यास्पद हो गई हैं। इधर

वह अपने रहने के लिए बड़े-बड़े आलीशान महल बनवाता है, भोग ऐश्वर्य के सामान जुटाता है, उधर उसके लिए जेलखाने, पागलखाने, मुहताजखाने बनते जा रहे हैं। जितने बनते हैं उतने ही कम प्रतीत होते हैं। वह आज़ाद होने की डींग हाँकता है, पर जेल और पागलखाने में वह घृणित जीवन व्यतीत करता है। वह हँसता है सिर्फ होटों से। प्यार करता है सिर्फ आँखों से। खाता है सिर्फ जीभ से। उसकी जिन्दगी उसी के लिए बोझ है, मौत ही उसकी मुक्ति है। मौत ही उसके सब दुःख दर्दों की दवा है। वह मनुष्यता का बोझ अपने कन्धों पर लादे हुए; थकावट से चूर-चूर; पसीने से लथपथ; विश्राम और आराम की खोज में भटक रहा है, और मौत उसे कह रही है—यहाँ आ, और मेरी गोद में विश्राम कर।

लोगों ने इस आदमी को सुधारने के बड़े-बड़े प्रयत्न किये। अनेक देवता बनाए, उनसे वरदानों का प्रलोभन दिलाया, शाप का भय दिलाया, धर्मग्रन्थों की दुहाई दी, स्वर्ग नर्क के हौवे दिखाए, पर आदमी का सुधार नहीं हुआ। उन्होंने उसे जेल में ठूँस दिया, जीता जलाया, फाँसी पर लटकाया, कालापानी भेजा, लेकिन बेकार। उन्होंने इस आदमी को ईमानदार और सदाचारी बनाने के लिए बड़े-बड़े लालच दिए, धर्म के एकसे एक बढ़कर ढोंग धतूरे बनाए, विश्वविद्यालयों में उसे शिक्षा दी, व्रत उपवास और प्रायश्चित्त की पीड़ाएँ दीं, पर इस आदमी का सुधार नहीं हुआ। वह श्रेष्ठ और सुखी न बना, न बना।

अज्ञान दुराचार और दरिद्रता बढ़ते ही चले गए—बढ़ते ही चले जा रहे हैं। क्यों? इसलिए कि इस मनुष्य के बच्चे पैदा करने पर कोई रोक टोक नहीं है। वे लोग, जो न तो अपना न अपने बच्चों का पालन पोषण कर सकते हैं। जो गन्दी झोंपड़ियों में जिन्दगी बिताते हैं, अपनी इन घृणित झोंपड़ियों को बच्चों से भर देते हैं। उनमें अपनी जिम्मेदारी को समझने की शक्ति नहीं है। वे भगवान और भाग्य के

भरोसे पड़े कीड़ों की भाँति गन्दगी में रेंगते हुए जीते रहने के आदी हो गए हैं। वे कभी बच्चों को नहीं चाहते, न वे उनके उत्पन्न होने पर उनका स्वागत करते हैं क्योंकि वे उनके लिए एक भार हैं, एक अभिशाप हैं। वे बच्चों की कोई चिन्ता नहीं करते, कोई खोज-खबर नहीं लेते, ये बच्चे गन्दी गली कूचों में आवारा कुत्तों की भाँति भटकते हुए बढ़ते हैं। जेल जाते हैं, अस्पतालों में मरते हैं, फाँसी पर लटकते हैं। कुछ भीख माँगते हैं, कुछ गंदी बीमारियों में सड़ते हैं, दुराचार और खूब खराबी उनकी आजीविका होती है। दुराचार को वे अपनी औलाद को बरासत में दे जाते हैं। इस दुर्दम्य दुराचार के सम्मुख उनके सुधार के सारे ही उपाय व्यर्थ हैं, सारी ही योजनाएँ निरर्थक हैं।

क्या इन अज्ञानी, दुराचारी, और दरिद्रजनों को बच्चे पैदा करने से रोका नहीं जा सकता? क्या मनुष्य को परिणाम की चिन्ता करना नहीं सिखाया जा सकता? उनकी अन्धी कामवासना पर रोक नहीं लगाई जा सकती?

कहा जाता है कि मनुष्य बुद्धिवादी जीव है, संसार के सब प्राणियों से अधिक उसमें बुद्धि है, बुद्धि ही ने उसे अन्य सब प्राणियों से ऊँचा उठाया है। पर मैं तो यह देखता हूँ कि उसमें बुद्धि की अपेक्षा काम-वासना ही अधिक है, यह कामवासना बहरी है। सुधार के सारे हथियार उसे काबू में रखने में अब तक बेकार साबित हुए हैं। अपराधी, आवारे, दुराचारी, भिखमंगे और घृणित रोगों के रोगी बेतहाशा बच्चों को पैदा करके उनसे संसार को पाट रहे हैं। कोई कानून उन्हें निषन्त्रण में नहीं रख सकता। कोई धर्म शासन सुधार उन्हें अपराध करने से रोक नहीं सकता। उन्हें अपने में रहने देने को, उनके साथ रहने का खतरा उठाने को, समाज बाध्य है। समाज पर उन्हें खाना कपड़ा और निवास देने का भार है। किन्तु कहाँ से? और कैसे? समाज न इतने आदमियों का भार उठा सकता है, न उन्हें खाना दे सकता है। इतने

आदमियों के लायक भोजन उसके पास है ही नहीं। इतना उत्पादन बढ़ कर ही नहीं सकता है।

सुधारक लोग सपने देखते हैं—कि ज्ञान और सदाचार मनुष्य के दुखदर्द को हर लेंगे। मनुष्य का जीवन सफल होगा। जेलखाने ढहा दिए जाएँगे, फाँसी के तख्ते दुनियाँ से उठा दिए जाएँगे, जेल की काल-कोठरियाँ प्रकाश से जगमगा उठेंगी। कोई दरिद्र न रहेगा। कोई भीख के लिये हाथ पसारता नज़र नहीं आएगा, सारे मनुष्य समझदार, सदाचारी और सुखी हो जाएँगे। किन्तु कब? कब? ये सपने तो उन्होंने युग-युग से देखे हैं, और वे युग-युग तक देखते रहेंगे।

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि वह प्रसन्न रहे। भोजन वस्त्र और मकान की, तथा अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की उसे चिन्ता न रहे। इसके साथ ही वह ज्ञान से, प्रेम से, दर्शन से, कला से अपने मन की भूख मिटाना चाहता है। आदि युग के असभ्य जीवन की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। परन्तु सभ्यता के साथ-साथ शारीरिक आवश्यकता बढ़ती गई, मनुष्य के मानसिक क्षितिज का विस्तार होता गया। तथा दिमाग और अधिक और अधिक की माँग करता चला गया। असभ्य युग का आदमी सोचता कम था, वह केवल अनुभव करता था। वह जगत का बचपन था, बच्चों में पहिले इच्छा और आवेश उत्पन्न होता है, उसके बाद तर्क। असभ्य युग का आदमी मनका कमजोर आलसी और भीरु था। वह जो देखता था उसे ही समझता था। विपत्ति पड़ने पर प्रकृति से परे किसी अदृश्य शक्ति की सहायता खोजता था। सहस्राब्दियों तक मनुष्यों की सन्तान प्रकृति से परे भी शक्ति की खोज करती रही। और बलिदानों, प्रार्थनाओं, अलौकिक पूजाओं से उसकी उपासना करती रही। बहुत धीरे २ बड़े कष्ट से उसकी विचारसत्ता विकसित हुई, और मन शरीर का सहायक बना। विचार और परिश्रम एकत्र मिले, और मनुष्य की उन्नति का सूत्रपात हुआ। वह प्रकृति से परे की आस छोड़

जो प्राकृतिक है उसी में विश्वास बढ़ाने लगा। पर इसके लिए उसे शताब्दियों तक पुराने रीति रिवाजों से संग्राम करना पड़ा।

परन्तु जब तक वह युद्धों की आवश्यकता अनुभव करता है—शक्ति और धन का अपव्यय करता है तबतक वह सभ्य नहीं कहला सकता। इन युद्धों ने सभ्य संसार को कर्जदार, दिवालिया और दरिद्र बना दिया है। इस युद्ध के कारण करोड़ों मनुष्यों को विवश होकर तथा जीवन की आवश्यकताओं से रहित होकर रहना पड़ता है। मनुष्य को मार डालने की तैयारी के लिए—मृत्यु के नए २ साधनों के निर्माण के लिए, वे अरबों रुपये नष्ट किए जाते हैं—जो मनुष्य की भलाई के लिए काम आने चाहिए थे। जरा उस क्रूरता का तो विचार कीजिए—जब अकारण ही गोलियाँ जीवित मनुष्यों की छाती को बींधती चली जाती हैं। उन विधवाओं और अनाथ बच्चों के आँसुओं से भरे मुखड़ों को तो देखिए जिनके पति और पिता इस प्रकार मार डाले गए। जब कि वे अभी भरी जवानी में थे। और फिर उन गूँगे, लंगड़े, लूले, अपंगों को देखिए जो उन युद्धों से प्राणों को घसीट कर घर ले आए हैं।

आप सुख चाहते हैं पर दुःख का सृजन करते हैं। शान्ति चाहते हैं पर अशान्ति के साधन उत्पन्न करते हैं। विश्वास चाहते हैं पर विश्वास-घात करते हैं। प्यार चाहते हैं पर कपट रखते हैं। जीवन चाहते हैं पर मृत्यु की ओर दौड़ते चले जा रहे हैं। ऐ मनुष्यों, क्या तुमने भाँग खा ली है। या तुम्हारी बुद्धि किसी ने हरली है। या तुम्हारे विनाश की घड़ी ही आ लगी है !!!

२

'देश' खूनी देवता

इस 'देश' नामक देवता ने इस सभ्य युग में जन्म लेकर दुनियाँ के सब देवताओं को पीछे ढकेल दिया। यही संसार के मनुष्यों का आज सबसे बड़ा देवता बन गया है। परन्तु असभ्य युग में असभ्य जातियों ने कभी भी किसी देवता को इतनी नरबलि न दी थी जितनी इस सभ्य-युग में इस खूनी और हत्यारे देवता को मनुष्य ने दी है, और देता जा रहा है। इस भयानक देवता के खून की प्यास का अन्त ही नहीं है। बलिदान की पुरानी तलवार के स्थान पर मनुष्य ने अपना सारा बुद्धि बल खर्च करके ऐसे ऐसे खूनी हथियार इस देवता को नर बलि से संतुष्ट करने के लिए बनाए हैं कि लाखों करोड़ों नर नारी एक ही चपेट में चटनी हो जायँ, लाखों स्त्री पुरुषों से हरा भरा नगर रात की बात में मुर्दों का टीला बन जाय। हँसते खेलते बच्चे, घर गृहस्थी के काम में मगन गुनगुनाती हुई स्त्रियाँ, और जीवन के उद्योगों में व्यस्त पुरुष, क्षण-भर में जो जहाँ है—जल भुन कर खाक हो जाय। रोज-रोज मनुष्य का ताजा रक्त इस देवता को चाहिए। जो सबसे अधिक नर वध कर सकता है, वही सबसे अधिक इस भयंकर देवता का वरदान प्राप्त कर सकता है! यह हत्यारा देवता शायद संसार के सारे नृवंश को खा जायगा, एक भी आदमी के बच्चे को जीता न छोड़ेगा, इस बात का संरजाम इस देवता के पुजारी लोग कर रहे हैं।

यह खूनी देवता योरोप में उत्पन्न हुआ और वहाँ से अंग्रेज इसे भारत में अपने साथ लाए। यहाँ इस देवता को लाकर प्रतिष्ठित करने का इतिहास भी सुनने के योग्य है, इसी से सुनाता हूँ। सारे संसार की

जातियों में अति प्राचीन काल से 'देवता' संस्कृति का केन्द्र रहा है; विजयिनी जातियाँ अपने देवत्व को पराजितों पर थोपते आई हैं। जब आर्यों ने भारत जय किया, तो उनका नेता इन्द्र—जो सिन्ध और पंजाब का राजा बन गया था, वहाँ के लोगों का देवता बन गया। अशोक ने अपनी धर्म विजय से बुद्ध को, शकों ने महादेव को, और गुप्तों ने वासुदेव, को अपना देवता बनाया और उसे मनुष्यों के आगे लाए। इसी प्रकार अंग्रेज इस 'देश' नाम के नए देवता को लेकर भारत में आए।

पाश्चात्य संस्कृति ने इस देवता को जन्म दिया था। पाश्चात्य संस्कृति की नींव ग्रीकों ने डाली थी। मिश्र और बेबिलोनियाँ के प्राचीन साम्राज्यों के नष्ट होने पर ग्रीकों का उदय हुआ। उसमें सबसे प्रथम सार्वभौम राजा की पूजा खत्म कर दी गई। उन्होंने पहिली बार संसार के मनुष्यों के सम्मुख यह आदर्श रखा, कि साधारण जनता राजा की सहायता के बिना ही राज्य कर सकती है। इससे ग्रीक संस्कृति में मध्यम वर्ग के सामान्य लोगों के अधिकार बहुत बढ़ गए। बुद्ध काल में भारत में भी मल्ल-वज्जी आदि अनेक गण तन्त्र थे, परन्तु इनमें और ग्रीकों के प्रजातन्त्रों में भेद था। हमारे गण तन्त्रों में मध्यम वर्ग का कोई स्थान न था। वे विशेष जनों के अधिकृत गण थे।

प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ में ग्रीक प्रजातन्त्र की रूप रेखा लिखी है। प्रजातन्त्र की स्थापना के बाद मध्यमवर्ग के हाथ सत्ता आने से ग्रीक लोगों में कला-कौशल और तर्क ज्ञान की अनायास ही वृद्धि होती गई। और वे अपने काल की सब जातियों से इसमें बढ़ गए। और जब रोमन लोगों ने ग्रीस को पराजित कर उसे अधिकृत किया, और उन्होंने ग्रीकों को पकड़ पकड़ कर अपना गुलाम बनाया तो आगे चलकर अपनी कला और संस्कृति के बलपर वे गुलाम ग्रीक ही अपने स्वामी रोमनो के गुरु बन गए। इन ग्रीक दासोंही से उन्होंने कला कौशल और तर्कज्ञान सीखे। रोमन साम्राज्य बढ़ता ही गया। कर्थेज जनों

से कठिन युद्ध करके उन्होंने भूमध्यसागर पर अपना अधिकार जमा लिया। ग्रीकों के बाद रोमने प्रजातन्त्र प्रणाली को अपनाया तो, परन्तु बाहर के विजित देशों पर उनका निरंकुश ही शासन रहा। जिसका परिणाम यह हुआ कि रोम में साम्राज्यशाही की स्थापना करनी पड़ी। फिर भी प्रजातन्त्रप्रणाली का रोमन विधान प्रचलित रहा। आजके उन्नत योरोपियन राष्ट्रों के विधानों पर उसकी छाप है। जब रोमन साम्राज्य का पतन होने पर योरोप में ईसाई धर्म का उदय हुआ तो रोमन साम्राज्य का नेता पोप बन बैठा। सारे योरोप की राज सत्ताएँ उसके हाथ की कठपुतली बनी रहीं। यह योरोप की अन्धा धुन्धी का मध्य युग था। इसी समय योरोप पर मंगोलों ने आक्रमण कर दिया। और उसके बाद तुर्कोंने समूचे पूर्वीय योरोप और ग्रीक को ग्रस लिया। सोलहवीं शताब्दी में तो ऐसा भास होने लगा—मानों सारा ही योरोप मुसलमान या मंगोलियन बन जायगा। परन्तु तेरहवीं शताब्दी में ही योरोप का विकास होने लगा था। वेनिस-जिनोवा, पीसा, फ्लोरेन्स आदि नगरों का उदय हो चुका था, इन नगरों का पोषण व्यापार से होता था, और इस सारे व्यापार का मध्य केन्द्र मार्ग कुस्तुनतुनियाँ नगर में हो कर था। उस समय तक भी योरोप के लोग भारत और चीन के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते थे। जब वेनिस निवासी निकोलो पोलो अपने भाई और पुत्र के साथ ई० स० १२६० में चीन पहुँचा और कुबलाई खान के दर्बार में बत्तीस वर्ष रह कर स्वदेश लौटा, और चीन के सम्राट् के ऐश्वर्य का बखान लोगों से किया तो लोगों ने उसपर विश्वास नहीं किया। इसी समय वेनिस और जेनोवा के लोगों में एक समुद्री युद्ध हुआ और उसमें वेनिस को हार हुई, मार्कोपोलो भी अन्य कैदियों के साथ कैद होकर जिनोवा लाया गया। जहाँ उसने अपना यात्रा वृत्तान्त 'रुस्तिसियाना' को सुनाया। जिसने उसके संस्मरण लिखे। जिसका योरोप में स्वागत हुआ। पोलो के द्वारा योरोप को तीन नई

वस्तु प्राप्त हुई। दिशासूचकयन्त्र, बारूद और छापने के लकड़ी के ठप्पे। मार्कोपोलो के यात्रावृत्त को पढ़कर भूमध्यसागर और अटलांटिक महासागर में व्यापार करने वालों को प्रोत्साहन मिला। और पोर्तुगीज नाविक दीयाज़, कोलंबस, वास्को-द-गामा के ऐतिहासिक अभियान हुए। इससे पूर्व का द्वार योरोप के लिये खुल गया। भारत, चीन, और अमेरिका की उपलब्धि उन्हें हुई। इन देशों की सम्पत्ति पर सारे पश्चिमी योरोप की लोलुप दृष्टि पड़ी और उनमें प्रतिस्पृद्धा बढ़ने लगी। पोर्तुगीजों के बाद डच, और उसके बाद अंग्रेजों ने उद्योग किए। फ्रेन्चों ने भी हाथ पैर मारे, और प्लासी के निर्णायक युद्ध में भारत में अँग्रेजों के राज्य की नींव बद्धमूल हो गई।

आज इस राजा का और कल उस राजा का पक्ष ले लेकर उन्होंने अन्ततः सारा भारत अपने अधिकार में कर लिया। फिर उन्होंने रजवाड़ों को भी हड़पने की चेष्टा की। इसके परिणाम-स्वरूप सत्तावन का विद्रोह हुआ, जिसमें फाँसी और नरवध का महाताण्डव करके अंग्रेज़ एकनिष्ठ भारतके राजा बन बैठे। जब इन अँग्रेजोंने भारतपर अधिकार किया था, उस समय ही यदि वे देशी राज्यों को भी अपने कब्जे में ले सके होते, तो इन देशी रियासतों पर उन अधमरे राजाओं की मुर्दारसत्ता आधी शताब्दि तक अपनी मनहूस छाया न डाल पाती। और इनके उद्योग-धन्धों की वृद्धि होकर भारत सामूहिक रूप से समृद्ध हो जाता। परन्तु दुर्भाग्य से लार्ड डलहौजी के काल में लोग यह समझते थे कि ये देशी राज्य ही भारतीय संस्कृति के केन्द्र हैं, इन्हींमें स्वराज्य है। इसी कारण भारतीय सैनिकोंने इनके लिये विद्रोह किया। अँग्रेजों ने भी बुद्धिमत्ता प्रकट कर इस मरती हुई राज्यसंस्था को जैसा का तैसा कायम रख कर उनकी गर्दन में रेजीडेन्सी का लोहे का तौक डाल दिया। भारत में आकर क्लाइव और हेस्टिंग्स ने जो लूट खसोट और ठगविद्या का धन्धा अपनाया—यह यदि कुछ दिन और कायम रहता तो शायद अँग्रेजों का

यहाँ रहना संभव न रह जाता। पर उन्हीं दिनों अमेरिका ने स्वाधीनता का झण्डा खड़ा कर दिया और ७ वर्ष युद्ध चलाकर भी अँग्रेजों को अमेरिकन राज्यों की स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इस घटना से भयभीत होकर उन्होंने भारत में अत्याचार नर्म कर दिए।

अँग्रेजों से प्रथम पोर्तुगीज-डच और फ्रेन्चों ने भारत पर कदम रखा था। पर सफलता अँग्रेजों ही को मिली। भाग्य से नहीं, इसका कारण वह औद्योगिक क्रान्ति थी, जिसका श्रीगणेश योरोप में मार्कोपोलो के बाद पन्द्रहवीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था और अपनी कूटनीति और उद्योग से अँग्रेज उसमें सब योरोपीय देशों से बाजी मार ले गए थे। इंग्लैण्ड के सरदारों और मध्यमवर्गी लोगों ने राजा पर अंकुश लगाने के लिए पार्लमैन्ट की स्थापना कर ली। व्यापारिक क्रान्ति में इससे बड़ी सहायता मिली। इसके बाद ही सोलहवीं शताब्दी में इंग्लेण्ड ने मार्टिन लूथर का पंथ स्वीकार करके पोप के धार्मिक प्रभुत्व का भी अन्त कर दिया। सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लेण्ड के मध्यम वर्गों में और जाग्रति हुई। बढ़ते हुए मध्यम वर्ग ने अपनी बात में आड़ लगाने के अपराध में अपने राजा चार्लस का सिर काट लिया। दृढ़ निश्चयी क्रामवेल के सामने योरोप भर के राजाओं का विद्रोह भी कारगर न हुआ। इसके बाद राजा के अधिकार बराबर कम होते गए, और मध्यम वर्ग पनपता चला गया। फिर भी अँग्रेजों ने प्रजातन्त्र की स्थापना नहीं की। क्योंकि उसका जाल दूसरे देशों में फैल गया था, इन देशों के राजाओं से पत्र व्यवहार करने और विजित देशों पर, निरंकुश शासन की आड़ में उनका निर्द्वन्द होकर लोहू चूसने के लिए 'राजा' नामक एक खिलौने की बड़ी आवश्यकता थी। इसीसे उन्होंने अपनी बोगस राज-सत्ता को क़ायम ही रखा। सत्तावन के विद्रोह के बाद रानी विक्टोरिया की घोषणा और उसकी चिकनी चुपड़ी बातें, बंग भंग के आन्दोलन को दबाने और बंगभंग को रद्द करने के लिए राजा जार्ज को भारत ले आना,

राजा का सदुपयोग था। जब कभी पार्लमैन्ट ग़लती करके कोई संकट खड़ा कर देती तो यह राजसंस्था उससे बच निकलने में अंग्रेजों को भारी मदद देती थी।

इस प्रकार अंग्रेजों ने अपनी यह जातीय रीति बना ली कि चाहें राजसत्ता हो चाहे धर्मसत्ता। जब उससे लाभ उठाने का अवसर है तो लाभ उठा लिया जाय, जब जरूरत न हो या हितकर न हो तो उसे ठुकरा दिया जाय। योरोपियन अन्य देशों के मध्यम वर्ग पर विजय प्राप्त करने में अंग्रेजों की यह नीति बड़ी सफल हुई। स्पेन और पुर्तगाल के आदमी पोप के फेर में पड़कर धर्मान्ध बन गए। इस कारण पूर्व और पच्छिम में वे अपना सारा महत्त्व खो बैठे।

फ्रांस की रक्त-क्रांति ने जो उलझन पैदा करदी सो इससे इंग्लैण्ड योरोप के सारे देशों से प्रगति में आगे निकल गया। हिन्दुस्तान में पहिले उन्होंने जहाँ तहाँ कोठियाँ स्थापित कीं, इसके लिये उन्हें मुगलों और पेशवाओं के दर्बार में बारंबार अपमानित होना पड़ा। पर इससे क्या? उनका जो ध्येय था वह तो पूरा हुआ। वे निरन्तर पार्लियामेंट से अपना समर्थन प्राप्त करते रहे, और व्यापार संरक्षण के लिए नाकों की जगहों पर क़दम जमाकर जलसेना मजबूत करते चले गये। भला व्यापारिक क्रान्ति के सन्मुख सामन्तशाही ठहर सकती थी? व्यापारिक हाथ में पैसा खेलता रहता है, इससे अंग्रेजों की सेना का वेतन कभी नहीं रुका। इसी कारण उनकी सेना सन्तुष्ट रही। इसके अतिरिक्त व्यवस्था उनकी बहुत उत्तम थी, इस कारण भी उन्हें हमारे राजाओं को पराजित करने में, जो विलासी आलसी घमण्डी और राजनीति में कोरे थे—कोई कठिनाई नहीं उठानी पड़ी।

किन्तु इन राजाओं को उदरस्थ करना अंग्रेजों की सबसे भारी विजय न थी। उनकी सबसे बड़ी सफलता तो यह थी कि अपनी व्यापारिक क्रान्तिके द्वारा उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति की लहरसे भारतके कोने कोने को

व्याप्त कर दिया। यह लहर भारत को भी अतिक्रान्त करके काबुल तक जा पहुँची। उसका गहरा प्रभाव हमारी धार्मिक-राजनैतिक और सामाजिक स्थिति पर पड़ा। यद्यपि अंग्रेज भी बाइबिल साथ लाए, और कुछ लोग ईसाई हुए भी, पर प्रायः लोग तटस्थ ही रहे। अंग्रेजी न्याय और राज की उत्तमता में किसी को सन्देह न रहा। बड़े बड़े विद्वान् मनस्वी भी उनके गुणगान करने लगे। उनका अदल इसाफ प्रसिद्ध हो गया। पर बाइबिल की उतनी प्रसिद्धि नहीं हुई। फिर भी जो कुछ हो रहा था, उसपर भारत के मनीषियों का ध्यान गया। राजा राममोहनराय ने यह देखा। वे उसे पवित्र ईश्वरीयग्रन्थ तो न मान सके पर उसके एकेश्वरवाद को उन्होंने अपना लिया। मुस्लिम एकेश्वरवाद का प्रभाव भी उनके मनपर था। उन्होंने सोचा—एकेश्वरवाद हिन्दुओं के लिए देशकाल को देखते हितकर है। इससे अनेक सम्प्रदायों और जातियों में बिखरी हुई जाति एक हो जायगी। उन्होंने बाइबिल के इस ईश्वर को उपनिषद् के 'ब्रह्म' से मिला दिया। और भारत में ब्राह्मसमाज की इमारत खड़ी कर दी। और इस नए ईश्वर की भक्ति के द्वारा सामाजिक प्रथाओं को बिल्कुल बदल डालने की चेष्टा की।

यह कोई नई बात न थी। पुरानी ही परंपरा थी। जब सिन्ध के आर्य राजा इन्द्र को ब्राह्मणों ने देवता बनाकर पूजा। या जब शकों के महादेव को ब्राह्मणों ने परमेश्वर बनाकर या वासुदेव को ईश्वर बनाकर उसकी पूजा प्रचलित की, तब उन्होंने भी नई-नई सामाजिक प्रथाओं का प्रचलन किया था। परन्तु राजा राममोहनराय ने ब्राह्मणों के जातिभेद को स्थान नहीं दिया। उन्होंने अंग्रेज जाति के समान सारी हिन्दू जाति को एक पंक्ति में खड़ा कर देने का दुःस्साहस किया। इससे ब्राह्मणधर्मी अवश्य नाराज़ हो गए। बंगाल में बड़े कट्टर ब्राह्मण रहते थे। वे सब बिगड़ खड़े हुए। पर सुशिक्षित लोगों को अपने विकास में इससे सहारा मिला। रहन सहन में जिन्होंने जरा स्वतन्त्रता प्रकट की,

जो शिक्षा के लिए विलायत गए, जिन्हें इन दकियानूसी ब्राह्मणों ने जाति बहिष्कृत किया, वे सब ब्राह्मसमाज की शरण आगए। सारे देवताओं और उनके पुजारियों की आधीनता की शताब्दियों से बँधी चली आती हुई बेड़ियों को काटकर—वे अपने जान हिन्दू ही रह कर स्वतन्त्र भाव से इस नए देवता 'ब्रह्म' की मन ही मन उपासना करने लगे।

परन्तु ब्राह्मसमाज के मनस्वीगण केवल 'ब्रह्म' के ध्यान में ही मग्न रहे। उनमें से स्वछन्द हो बहुत लोगों ने विलायत जा उच्चशिक्षा पाई। अँग्रेजीभाषा और संस्कृति के वे अधिकतम निकट हो गए। अँग्रेज़ी इतिहास का उन्होंने खूब मनन किया। उधर इसी समय लार्ड मैकाले के अनुरोध से अँग्रेजों ने भारत में अँग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बना दिया। उच्चवर्गीय ये ब्राह्म बंगाली तरुण ब्राह्मण धर्म से मुक्त हो धड़ाधड़ अँग्रेजी पढ़ने और अँग्रेजों की नौकरी करने लगे। इनकी देखा-देखी इतरजनों ने भी यही किया। जब लोगों ने देखा कि अँग्रेजों ने यह शर्त नहीं लगाई है कि जो ईसाई होगा उसी को नौकरी दी जायगी, तो वे भी उत्साह से अँग्रेजी पढ़ने तथा सरकारी नौकरी बजाने लगे। ये नव्यकाल के स्वतन्त्र भारतीय तरुण अँग्रेजों के लिये बड़े उपयोगी साबित हुए। उन्होंने अँग्रेजीराज्य की जड़ भारत में जमाने में बड़ी मदद दी। पोर्चुगीजों ने लोगों को जोर जुल्म से ईसाई बनाया था, परन्तु ईसाई बनाकर फिर नौकरी देने से वे लोगों से कोई लाभ न उठा सके। जो लोग इस तरह जोर जुल्म से ईसाई हो गए उनका हिन्दुओं ने बिलकुल बहिष्कार कर दिया। और उन्हें अपने से बहुत दूर रखा। इससे इनके द्वारा ये विदेशी यह न जान सके कि हिन्दु समाज में क्या हो रहा है। परन्तु इन अँग्रेजी पढ़ेलिखे हिन्दुओं द्वारा अँग्रेजों को हिन्दु घरों की सभी प्रतिक्रियाओं का पता लगता रहा। कहाँ क्या हो रहा है यह इनके द्वारा वे जानते रहे। परन्तु इस ब्राह्म समाज

के साथ ब्राह्मणों ने ईसाईयों ही के समान व्यवहार किये। क्योंकि इसके कारण वे बिलकुल घाटे में पड़ गये थे। इनके 'ब्रह्म' के कोई ऐसे मन्दिर नहीं बने, जहाँ ब्राह्मणों को पुजारी बनाकर उनकी आजीविका चलने की आशा होती। अतः इस घाटे के धर्म का भला ब्राह्मण क्यों स्वागत करते। यद्यपि यह 'ब्रह्म' आर्यों की उपनिषद् के ब्रह्म से मिला दिया गया था, पर इसमें कुछ भी अन्तर न पड़ा।

परन्तु इन उच्चवर्गीय अँग्रेजी पढ़े लिखे लोगों का एक नया दल बढ़ता ही गया। और इस दल में ब्राह्म लोगों के साथ हिन्दू भी आ-आकर मिलते गए। ब्राह्मणों के विरोध के कारण ये कुछ-कुछ धर्म से उन्मुख हो गये थे—अब उन्हें एक नया ज्ञान प्राप्त हुआ अँग्रेजों की सोहबत से। वह यह कि अँग्रेजों की उन्नति बाइबिल के कारण नहीं हो रही है। उनकी उन्नति और सफलता का कारण उनकी 'देशभक्ति' है। अँग्रेज अपने देश के लिए बड़ी से बड़ी हानि उठा सकता है, बड़े से बड़ा कष्ट सह सकता है, बड़े से बड़ा त्याग कर सकता है। उन्होंने फिर यह भी देखा—हिन्दू ऐसा नहीं कर सकता। अधिक से अधिक हिन्दू अपने धर्म के लिये या अपनी जाति के लिए त्याग कर सकते हैं। देश की कल्पना तो उनमें है ही नहीं। इन अँग्रेजी पढ़े लिखे और स्वतन्त्र विचार के पुरुषों में यह विचार जड़ पकड़ने लगा कि यदि हमारे हिन्दू-समाज में भी देशभक्ति की भावना जागृत हो जाय तो हम भी अँग्रेजों की भाँति उद्यम हो कर अपना राज्य स्थापित कर सकते हैं। इसी समय बंगाल में इन सुशिक्षित जनों में से बंकिमचन्द्र ने 'बन्देमातरम्' का घोष किया। और उस माता की मूर्ति का वर्णन किया—'सुजलां, सुफलां मलयज शीतलां, शस्यश्यामलां'। अष्टभुजी दुर्गा के स्थान पर उन्होंने इस देवी प्रतिमा की 'सप्तकोटिभुजधृतखरकरवाले' का नाद किया। अन्त में कहा—'केबोले मातुमि अबले ?'

इस 'सप्तकोटिभुजधृतखरकरवाले' वाक्य में साढ़ेतीन करोड़ बंगालियों

का सामूहिक आवाहन था। केवल मुट्ठी भर ब्राह्मसमाजियों का नहीं। शीघ्र ही सम्पूर्ण बंगाल 'सप्तकोटिभुजधृतखरकरवाले' 'कबोले मातुमिअबले' के निनाद से गुञ्जायमान हो गया। और 'वन्देमातरम्' उनका मूलमन्त्र हो गया। यह मन्त्र और इस मन्त्र की यह नई देवी 'मातृभूमि' भूमिमाता बन गई। और वह बंगाल की परिधि को भेदकर अंग्रेजी साम्राज्य की वृद्धि के साथ-साथ अंग्रेजी राज्य के मूल स्तम्भ अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दुओं के द्वारा भारत में चारो ओर फैलने लगी।

परन्तु, देश में एकता स्थापित नहीं थी। बंगाली अपने को बंगाल तक ही सीमित रखते थे। महाराष्ट्री महाराष्ट्र तक। पंजाबी पंजाब तक। समूचे देश को अपना कहने वाला कोई न था। समूचे देश में एकता स्थापित करनेके लिए एक धर्म और एक भाषा की बड़ी आवश्यकता थी। स्वामी दयानन्द ने इस बात पर लक्ष्य किया। उन्होंने बड़ी ही दूरदर्शिता से वेदों को धर्मकेन्द्र बनाकर अनेकों सम्प्रदायों में बिखरे हुए हिन्दुओं को एक वैदिक धर्म के झण्डे के नीचे ले आने का उपक्रम किया। कोई भी हिन्दू संप्रदाय वेद-विरोध नहीं कर सकता था। फिर उन्होंने वेद ही के सहारे एक सर्वथा सर्वाधार निराकार नए परमेश्वर की प्रतिष्ठा की। जो मुसलमानों के खुदा, ईसाइयों के ईश्वर और ब्राह्मों के ब्रह्म ही के समान एक अद्वितीय था। फिर भी उसका समर्थन विदेशी नहीं, प्राचीनतम वेदों से होता था। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने एक सार्वभौम देवता को वेद में से निकालकर 'परमेश्वर' के रूप में लोगों के सामने ला खड़ा किया। वेद से ही जाति-भेद का विरोध किया। सारे भारत को एक राष्ट्र बनाने के लिए—रेल—तार—बिजली—विज्ञान—भाप जो कुछ इस नए युग के अंग्रेजी पढ़े-लिखे पुरुष को चाहिए, उन सब वस्तुओं की उत्पत्ति वेदों से मिलना सम्भव कर दी। जो कहीं नहीं—वह वेदों में है। वेद हमारे हैं—वे आज के नहीं हैं—उन्हें आज एक अरब, सत्तानवे करोड़, उनतीस लाख, उनचास हज़ार, ग्यारह वर्ष हो गये हैं। लोग

आश्चर्यदिग्विमूढ़ हो गए। जैसे जन्म दारिद्री को घर ही में भूमि में गड़ा हुआ पुराना बाप-दादों का धन मिल गया हो। वे स्वामी दयानन्द की ओर उन्मुख हुए और स्वामी दयानन्द ने एक भाषा—एक देश और एक धर्म का मंत्र दे, आर्यवंश और वेदों से उन्हें सम्पन्न कर, उन्हें 'देशाभिमान' से भर दिया।

सम्पूर्ण उत्तर भारत में स्वामी दयानन्द का जयघोष होने लगा। पंजाब की उर्वरा भूमि में वह बीज खूब पनपा। चारों ओर से आवाज आने लगी—'वेदों का डंका आलम में बजवा दिया ऋषि दयानन्द ने।' 'वेद' और 'आर्य' शब्द के जादू ने विशुद्ध भारतीय संस्कृति के आधार पर भारत में 'देश-भक्ति' का भान जाग्रत कर दिया।

बंग भंग से क्षुब्ध बंगीय तरुणों ने 'वन्देमातरम्' का जयघोष करते हुए सर्वप्रथम इस नए देवता—'देश' को अपना रक्तदान दिया। इसके बाद तो, 'क्रान्ति' बंगाल या किसी भी प्रदेश तक सीमित नहीं रही। 'देश—देशभक्ति' का लोगों को जुनून चढ़ गया। 'देश' के लिए मर मिटने के हौंसले जन-जन में भर गए। हिन्दी-साहित्य में इस देवता की भक्ति की स्थापना की भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य परिजनों ने विविध काव्य भाषा में साहित्य को देश-भक्ति की आवाज से भर दिया। और दिन-दिन 'देश' का देवता नई पौद के तरुणों का सर्वोपरि इष्टदेव बन गया।

दक्षिण में तिलक ने देश के देवता की पूजा के लिए वेदादर्श नहीं रखा। उन्होंने सोचा—किसी भी लोकप्रिय देवता या ऐतिहासिक व्यक्ति को आगे करके देशभक्ति जाग्रत की जा सकती है। उन्होंने 'गणेशोत्सव' और 'शिवाजी उत्सव' का दक्षिण में प्रचलन किया। शिवाजी महाराष्ट्रराज्य के प्रतिष्ठाता थे, और गणेश पेशवाओं के इष्टदेव थे। दक्षिण में ये दोनों ही अधिक आदर से देखे जाते थे। तिलक ने इस लोक रुचि को परखकर इससे लाभ उठाया। दोनों को लाकर हिन्दुओं में

देशभक्ति की भावना जाग्रत करने की चेष्टा की। और उन्हें बड़ी सफलता मिली। इस प्रकार ब्राह्म समाज, आर्य समाज, शिक्षित समाज, गणपति, आदि सबकी पूजा का केन्द्र 'देश' बन गया। और सब छोटे बड़े पंथ उसकी पूजा के साधन बन गए। और आज देश के बच्चे-बच्चे के मन में 'देश' का देवता रम गया। यदि आप किसी पढ़े लिखे से यह कहें कि तू 'देशभक्त' नहीं है तो वह इसे अपने लिए सबसे बड़ी गाली समझेगा। स्वामी दयानन्द ने एक मन्त्र पढ़ा—"एक समय हम इतने अच्छे थे—आज कितने गिर गए हैं।" यह जागरण का मन्त्र था। आज आप जिस किसी के कान में यह मन्त्र फूकिए उसीके मन में 'देशभक्ति' की प्यास जाग उठेगी।

इस 'देश' नामके देवता पर कितनी नरबलि दी गई, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। सारे संसार की जातियाँ देशभक्ति के नाम पर लोहू और लोहे का खेल आज भी खेल रहीं हैं. सभी लोग इस बात को जानते हैं। लोग निर्मम क्रूर होकर मनुष्यों की हत्या कर रहे हैं। मनुष्यों की हत्या—विनाश—विध्वंस के एक से एक बढ़कर साधन निकाल रहे हैं। यह नहीं सोचते—जब मनुष्य ही न रहेंगे तो इस देश नाम के देवता की पूजा कौन करेगा? भिन्न-भिन्न भूखण्ड के रहने वाले अपने अपने भूखण्ड को अपना नवीन देवता 'देश' बनाए बैठे हैं और उसकी स्वतन्त्रता के लिये खून की नदी बहा रहे हैं। लोग फाँसी के तख्ते पर झूले हैं। जेल की कालकोठरियों में सड़े हैं। लोगों ने बम फैककर हत्याएँ की हैं। गुप्त हत्याओं की समितियाँ बनाई हैं। प्रकट युद्ध किए हैं जिनका अन्त नहीं हो रहा। ये सब 'देश' की धुन में अन्धे लोग यह नहीं समझते—कि 'मनुष्य' जो देशकी अपेक्षा बहुत बड़ा है, उसका हम कैसे रक्त बहाएँ। आज इस खूनी देवता ने मनुष्य ही को मनुष्य का सबसे बड़ा खतरा बना दिया है।

३

'राष्ट्रीयता' मनुष्य के खून के गारे से खड़ी की गई इमारत

भोगतृष्णा सब दुखों की जड़ है। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के उपभोग को तृष्णा नहीं कहते। जब मनुष्य के मनमें भोगवस्तुओं की बेहद लालसा बढ़ जाती है, तब उसे तृष्णा कहते हैं। मनुष्य में यह तृष्णा संसार के सब प्राणियों से अधिक है, इससे वह आज संसार के सब प्राणियों से अधिक दुःखित है। भोग वस्तु की इच्छा करने वाले की यदि इच्छा पूरी हो जाती है, तो उसके उपभोग का वह आनन्द लाभ कर लेता है। पर यदि विषयोपभोगों में मनुष्य की वासना दृढ़मूल हो जाय और उपभोग वस्तु उपलब्ध न हो—तो उसे बेहद दुःख होता है। ऐसे मनुष्य अपनी उपभोग्य वस्तु को प्राप्त करने के अथक परिश्रम करता है। यदि उसे असफलता मिलती है तो वह दुःख और निराशा से पागल होकर करने न करने के सब दुःसाहस कर बैठता है। सफल हुआ और इच्छित वस्तु उसे प्राप्त हो गई तो उसकी रक्षा में व्याकुल रहता है। उसे राजा और चोर न लूट ले, आग से न जल जाय, पानी में न बह जाय, अप्रिय संबन्धियों के अधिकार में न चली जाय। इन सब झंझटों में फंसकर उसे बेहद परेशानी उठानी पड़ती है। इन भोग्य वस्तुओं के लिए—मित्र मित्र से, भाई भाई से, पति पत्नी से, राजा राजा से, क्षत्रिय क्षत्रिय से, ब्राह्मण ब्राह्मण से, भाई बहिन से, बहिन भाई से बैर रखते हैं—वे हथियारों से एक दूसरे पर घातक प्रहार करते हैं, मुकदमे बाजी करते हैं और मृत्यु या मृत्यु के समान कष्ट पाते हैं।

इस भोग तृष्णा के अंकुर मनुष्य के हृदय में जिस समय फूटते हैं,

तब वे बड़े प्यारे मालूम देते हैं, पर जब तृष्णा का जंगल बढ़कर उसके अन्तःकरण को ग्रस लेता है—तब उसका जीवन ही सत्यानाश हो जाता है। बौद्धग्रन्थों में इसका एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है। ग्रीष्म ऋतु में मालुआलता में फल लगे, और एक फल टूटकर उसका बीज शाल के एक वृक्ष के नीचे आ गिरा। इस लता की यह विशेषता है कि वह जिस पेड़ पर चढ़ती है उसे समूलनष्ट कर डालती है। शालवृक्ष पर रहने वाले देव डरे—कि कहीं ऐसा न हो—कि यह लता इस वृक्ष को ही समूल नष्ट कर दे। इसपर बन देवताओं ने उन्हें आश्वासन दिया कि—डरने की इसमें क्या बात है। यह बीज ही तो है, कदाचित् इस बीज को कोई मोर या हिरन ही खा जाय, या आग में जल जाय, दीमक ही खा डालें, या पोला ही निकले। परन्तु वर्षाऋतु में बीज में अंकुर फूट निकला। और कोमल नवीन लता ने उस शालवृक्ष का आलिङ्गन किया। यह देख शालपर रहने वाले देवों ने हँसकर कहा—हम व्यर्थ ही डरे, इस कोमल लताका तो स्पर्श ही बड़ा सुखकर है। धीरे २ मालुआ-लता बढ़ती चली गई, उसने सारे वृक्षको लपेट लिया, और उसकी बड़ी बड़ी डालों में घुसकर उन्हें गिरा दिया।

बुद्ध ने कहा—'हे आनन्द, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से पर्येषणा, पर्येषणा से लाभ, लाभ से निश्चय, निश्चय से आसक्ति, आसक्ति से अध्यवसाय, अध्यवसाय से परिग्रह, परिग्रह से मात्सर्य, मात्सर्य से आरक्षा, और आरक्षा से दन्डादान, शस्त्रादान कलह, विग्रह, विवाद, तू तू, मैं मैं, शून्य, असत्य आदि अनेक पाप कार्य होते हैं।

इस प्रकार यह भोग तृष्णा मनुष्य में उत्पन्न होकर मनुष्य को नष्ट कर देती है। परन्तु उसका अत्यन्त भयानक संहारक रूप तो तब देखा जाता है—जब वह समूचे समाज में प्रविष्ट हो जाती है। भोगतृष्णा के इसी सामाजिक रूप को 'राष्ट्रीयता' के नाम से विख्यात किया गया है।

इस राष्ट्र के छोटे बड़े सभी जन इस भोगतृष्णा के शिकार बन कर सर्वनाश को प्राप्त होते हैं।

'देशभक्ति' इस राष्ट्रीयता को उत्पन्न करती है। 'देश' नाम के देवता की पूजा करने वाला दल राष्ट्र बन जाता है। राष्ट्र सामूहिक भोगतृष्णा का ही नाम है। प्राचीन भारतीय साहित्य में राष्ट्र शब्द है। राष्ट्रके लिए कदाचित् वैदिक आर्यों ने बड़े २ अभियान किये थे। अब इस युग में यह राष्ट्रीय भोगतृष्णा योरोप में सबसे पहिले अंग्रेजों ही में उत्पन्न हुई। उसकी रोचक कहानी यहाँ कहता हूँ। परन्तु इससे प्रथम एक महत्वपूर्ण बात यह बताना आवश्यक समझता हूँ—कि एक व्यक्ति के स्वार्थ या हित के लिए कोई भी गर्हित कार्य या कुकर्म नहीं किया जा सकता। कोई करे तो समाज उसे दण्डनीय ठहरावेगा। कोई मनुष्य अपने व्यक्तिगत भोगलिप्सा के लिए झूठ बोले, चोरी करे, जाल रचे, हत्या करे—तो वह अपराधी है। परन्तु इस सामाजिक भोगलिप्सा के लिए देश और राष्ट्र के लिए सात खून माफ। सब कुकर्म,सब गुनाह, सब पातक,न केवल क्षमा की दृष्टि से; वरन् प्रशंसा की दृष्टि से देखे जाएँगे। इस राष्ट्र-स्वदेश के लिए मनुष्य का खून बहाने वाले हत्यारे अपराधी नहीं ठहराए जाते। व्यभिचार कराकर लोगों को ठगने वाली स्त्रियाँ प्रशंसनीय समझी जाती हैं। कहा जाता है यह उन्होंने देश और राष्ट्र के लिए त्याग किया है। गत दो विश्वयुद्धों में देश के देवता और राष्ट्रीय भोगतृष्णा को बारह-करोड़ मनुष्यों की बलि दी गई—और इतना धन-उद्योग-शक्ति खर्च की गई जिससे शताब्दियों तक सारी दुनियाके मनुष्य निर्वाह कर सकते थे। आज भी समुद्र फौलादी जंगी जहाजों से भरा है, आकाश बमवर्षकों से घिरा हुआ है, और इस भयंकर 'देश' नाम के देवता को भेंट देते २ और राष्ट्र के नाम पर मृत्यु के नए नए साधनों का निर्माण करते २ दुनिया के मनुष्य कंगाल और तबाह हो गए हैं।

अकाल और महामारियां संसार के सभी देशों में फैलती आई हैं,

परन्तु इसके द्वारा राष्ट्रीय हानि का सर्वप्रथम ज्ञान अंग्रेजों को सोलहवीं शताब्दी में हुआ। और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उनमें राष्ट्रीय तृष्णा की उत्पत्ति हुई। उनके मनमें यह इच्छा प्रबल हुई कि जैसे संभव हो अपने देश और राष्ट्र को सम्पन्न बनाना चाहिए। इस तृष्णा से पर्येषणा (खोज) का आरम्भ हुआ। उधर उन्होंने अमेरिका में उपनिवेश कायम किए। इधर ईष्टइन्डिया कम्पनी बना कर पूर्व में व्यापार का जाल फैलाया। उन्हें कभी लाभ और कभी हानि होने लगी। लाभ के स्थान पर आगे बढ़ना और हानि से सावधान रहना उन्होंने अपनी नीति बना ली। बाद में लाभ के स्थानों को दृढ़ करने का अध्यवसाय उन्हें करना पड़ा। जिससे परिग्रह की ओर उनकी प्रवृत्ति चली। अधिकार क्षेत्रों की रचना हुई, और संचित संपत्ति के सम्बन्ध में मात्सर्य और रक्षा के प्रश्न उठ खड़े हुए। अब अंग्रेज जाति की यह राष्ट्रीय आवश्यकता हो गई कि वह समुद्र पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करें, और उसे बनाए रखे। उसने अपने जंगी बेड़ों को सारे योरोप के जंगी बेड़ों से अधिक शक्तिशाली बनाया। जिसने प्रतिकार किया, उसी को धर दबाया। सारे योरोप के राष्ट्रों से उसने युद्ध ठान दिए। कलह—और विग्रहों का ताँता लग गया। स्पेन के जंगी बेड़े का विध्वंस करके उसने अपना कलेजा ठण्डा किया। आपस की लड़ाई में व्यस्त रहने से योरोपियन राष्ट्रों को अंग्रेजों से लोहा लेना अनुकूल नहीं रहा। अमेरिका चाहता तो उनके कान ऐंठ सकता था—पर उसे इसकी क्या आवश्यकता थी। वह अपने देश में ही मालामाल हो रहा था। इससे अंग्रेज 'लहरों के स्वामी' हो गए।

परन्तु अपनी इस राष्ट्रीय तृष्णा से इङ्गलैंड बोझ से दबकर कमजोर होने लगा, और उसके पड़ोसी राष्ट्र बलवान् होते गए। राष्ट्रीय तृष्णा का एक रूप यह भी है कि वह उच्चवर्गीय जनोंमें उत्पन्न होती है। परन्तु उसके पोषण का भार पिछड़ी हुई जाति के लोगों पर पड़ता है। पर

पिछड़े हुए ये लोग जब संगठित हो जाते हैं—तो उसी राष्ट्र पर टूट पड़ते हैं। स्पेन ने इस प्रतिकार का पूरा भोग भोगा—और अंग्रेजों के सन्मुख इटली—फ्रान्स—जर्मनी के राष्ट्र उठ खड़े हुए। जर्मनी की दुर्दम्य राष्ट्रीय भोगतृष्णा ने दो विश्व युद्धों का पुरोहित बनकर सम्पूर्ण योरोपीय राष्ट्रों को मृत्यु—और विनाश के मुँह में धकेल दिया। अन्त में इंग्लैण्ड को आज पतनोन्मुख होना पड़ रहा है। इसी पर शायद गोल्डस्मिथ ने संकेत किया था—'यहाँ संपत्ति इकट्ठी हो रही है, पर मनुष्य का ह्रास हो रहा है। सारा देश झूठी सजधज से सजा हुआ है, पर दुर्बलता के कारण पतनोन्मुख है।'

राष्ट्रीय भोगतृष्णा ने—राष्ट्र ने पूँजीवाद को जन्म दिया। इसका भी जन्म स्थान इंग्लैण्ड ही था। इंग्लैण्ड में जब सामूहिक भोगतृष्णा बढ़ी, तो विज्ञान ने व्यापार-क्रान्ति को उद्योग-क्रान्ति का रूप दिया। इसका फल यह हुआ कि छोटे २ गृहउद्योग नष्ट होकर बड़े २ विराट् उद्योग-केन्द्र स्थापित हो गए। वे विराट्—उद्योग-केन्द्र व्यक्ति की शक्ति की सीमा से बाहर थे। राष्ट्रीय भावना ने लोगों को सम्मिलित उद्योगों के लिये प्रेरणा दी। और सम्मिलित उद्योग स्थापना ही पूँजीवाद का श्रीगणेश था। इस प्रकार राष्ट्रीय पूँजी से वे उद्योग चलने लगे। और इन उद्योगपतियों की एक बड़ी भारी जमात इकट्ठी हो गई, जिसका विस्तार हुआ अमेरिका की नई भूमि में। अमेरिका के प्रवासी अंग्रेजों ने सात वर्ष अंग्रेजों से युद्ध कर अपनेको स्वतन्त्र किया, और संयुक्त राज्य की स्थापना की, जो बढ़ते २ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक उत्तरी अमेरिका के प्रशान्त महासागर-तट तक पहुँच गई। सन् १८१५ तक योरोपीय राष्ट्र परस्पर स्पृद्धा करते और लड़ते झगड़ते रहे। इस बीच अंग्रेजी साम्राज्य की पूर्व में स्थापना दृढ़ हो गई। अब योरोप के परस्पर के युद्ध बन्द हो गए। और योरोप तथा अमेरिका के विद्वानों की सम्मिलित वैज्ञानिक खोजों ने एक के बाद एक नए-नए आविष्कार किए,

जिनके सहारे पूँजीपति अपने व्यवसायों को उन्नत करते चले गए। तेल-कोयला और बिजली की प्राप्ति ने इन महाजातियों के शक्ति स्रोत को प्रवाहित कर दिया।

इन सब नवीन आविष्कारों से व्यवसायिक उन्नति होकर इन देशों के मानव जीवन सुख-साधनों से सम्पन्न होते गए। ज्यों २ उन्हें सुख साधन मिलते गए—उनकी भोगतृष्णा बढ़ती गई। चिकित्सा में भी उन्होंने नवीन खोज ली और उनकी जीवन अवधि बढ़ गई। परन्तु इसके साथ ही उनकी जनसंख्या भी बढ़ चली। इससे उनके आर्थिक स्वार्थ परस्पर टकराने लगे। जिसने एक नए संघर्ष का रूप दिया। इस संघर्ष ने प्रथम तो व्यवसायिक ईर्षा का रूप धारण किया। बाद में इन पूँजीवादी देशों के लोग 'श्रमिक' और 'पूँजीपति' इन दो दलों में विभक्त हो गए। और उनमें जो संघर्ष चला—वह बढ़ता ही चला गया। इस संघर्ष को दूर करने के लिए इन शक्तिशाली राष्ट्रों ने सुदूर के पिछड़े हुए राष्ट्रों पर अधिकार कर, उन्हें कच्चे माल का उत्पादक और पक्के मालका ग्राहक बनाया और उसके लाभ का कुछ अंश श्रमिकों को देकर उन्हें संतुष्ट करना चाहा।

दासों की परम्परा बहुत पुरानी है। बाबिलोनिया, इजिप्ट, ग्रीक आदि सब प्राचीन राष्ट्र दास रखते थे। भारत में इस वर्ग के लोग शूद्र कहलाते थे, वैदिक काल में उनकी खरी बिक्री दासों ही के समान होती थी, पीछे जब उनकी संख्या बहुत बढ़ गई और उन्हें दास बनाकर अपने यहाँ रखना उच्चवर्गियों के लिए असम्भव हो गया—तो उनकी एक नई जाति बना दी गई। और उसकी गणना निकृष्ट जाति में की गई। यही गत योरोपमें हुई, दासों की जब संख्या बहुत बढ़ गई तो उन्हें 'आसामी' बना दिया गया। ये आसामी जमीन के साथ ही बेच दिए जाते थे। रूस में यह प्रथा १६६१ तक थी। उत्तरी अमेरिका में जब अंग्रेजी उपनिवेशों की वृद्धि होने लगी—तब वहाँ के बड़े-बड़े खेतों में काम

करने के लिए दासों की आवश्यकता अनुभव हुई। दस-बारह अंग्रेज कम्पनियों ने यह धन्धा प्रारम्भ किया। वे अफ्रिका से तरुण स्त्री पुरुषों को पकड़ २ कर जहाजों में भर लाने और अमेरिका के बाजारों में बेचने लगे। अमेरिका के जमीदारों को इस क्रूरकार्य में स्वार्थ वश कोई दोष न दीख पड़ा। पर आगे चलकर इन दासों के कारण ही उन्हें एक संकट का सामना करना पड़ा। उत्तर और पश्चिम के लोगों के खेत छोटे थे, और वे अधिक उपजाऊ भी न थे। उधर दक्षिण वाले दासों की सहायता से अपने बड़े २ खेतों में बड़े पैमाने पर खेती करने लगे। वे अपना अन्न सस्ता बेचने लगे। उत्तर के जमींदार इस प्रतियोगिता का मुकाबिला न कर सके और उत्तर तथा दक्षिण के इन अमेरिकन जमींदारों में संघर्ष के कारण उत्पन्न हो गए। अन्त में अब्राहिम लिंकन के नेतृत्व में घनघोर युद्ध होकर दास प्रथा का अन्त हुआ। इस प्रथा के प्रक्षालन के लिए लाखों गोरों को रक्त बहाना पड़ा।

किन्तु दास प्रथा का लोप होने पर भी दास परिग्रह की मनोवृत्ति उनमें बनी रही। इस मनोवृत्ति ने योरोपीय तथा अमेरिकन राष्ट्र को एशिया के पिछड़े हुए राष्ट्रों की लूटखसोट के लिए प्रेरित किया। वे इन सब अर्ध सभ्यजनों को दास बनाने की जिम्मेदारी तो ले नहीं सकते थे, उन्होंने यह किया कि इन देशों में जाकर अपनी वैज्ञानिक शक्ति से सम्पन्न सैनिक सत्ता से इन देशों पर प्रभुत्व स्थापित कर उन्हें कच्चे माल का उत्पादक और पक्के माल का ग्राहक बना लिया। इसमें लाभ ही लाभ था। सिर्फ उन्हें सभ्यता की लत लगानी पड़ी। वे एक साथ ही दास और ग्राहक दोनों बन गए, तथा उनकी पालन-पोषण की जिम्मेदारी भी इन गोरे राष्ट्रों पर न पड़ी।

इस राष्ट्रीय भोगतृष्णा और सामूहिक परिग्रह-पूजी के गटबंधन ने अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को जन्म दिया। जिसके फलस्वरूप योरोप को दो

महान् युद्ध करने पड़े। और वह इन युद्धों से तबाह हो गया। यहाँ जरा इन युद्धों की पृष्ठभूमि पर भी विचार कीजिए—

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक संसार की खोज समाप्त हो गई और उसके अधिकांश भूभाग को भोग तृष्णा से व्याकुल योरोप के राष्ट्रों ने परस्पर बाँट लिया। यहां एक बात विचारणीय है—योरोप कभी एक महा-राष्ट्र न हो सका—छोटे २ परस्पर के विरोधी राष्ट्रों में बँटा रहा। इसका एक गम्भीर कारण था। यद्यपि उसकी मूल संस्कृति ग्रीक थी, परन्तु पुर्तगाल—फ्रांस और इटली पर लैटिन संस्कृति का विशेष प्रभाव था। ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रिया, इस्लैण्ड, डेन मार्क, नार्वे और स्वीडन पर उत्तरी आर्य जाति का प्रभाव था। रूस और बाल्कन प्रदेशों पर एशि-याई संस्कृति का असर था। इसी से सारा योरोप—ग्रीक-रोमन संस्कृति का माध्यम पाकर भी कभी एक न हो सका। भिन्न राष्ट्रों में बटा रहा। वे राष्ट्र परस्पर लड़ते झगड़ते रहे। ब्रिटेन योरोप के कोने में एक छोटा सा द्वीप था, जब सोलहवीं शताब्दी में नई दुनिया की खोज होने लगी, तो उसे नई पुरानी दुनिया का केन्द्रीय देश होने का महत्व मिल गया। और वह योरोप की राजनीति और भोग तृष्णा का नेतृत्व करने लगा। ज्यों ज्यों योरोप में राष्ट्रीयता का रूप निखरता गया—ब्रिटेन के राजनी-तिज्ञों की शक्ति-संतुलन-नीति योरोप का नेतृत्व करने लगी। यह नेतृत्व उसे योंही नहीं मिल गया इसके लिए उसे बहुत २ संघर्षों का सामना करना पड़ा। और, चूंकि योरोप की सत्ता का संसार के अन्य भूभागों पर भी प्रभाव पड़ा। और, चूँकि योरोप की सत्ता का संसार के अन्य भूभागों पर भी प्रभाव था, इसलिए ये संघर्ष दिन-दिन अंतरराष्ट्रीय प्रभाव रखते गए।

सन् १९१५ के बाद योरोप के सभी भूभागों का राष्ट्रीय संगठन हो चुका था। यूनान और बाल्कन तुर्क शासन से मुक्त हो चुके थे। इटली भी स्वतन्त्र हो गया था, जर्मन भाषा भाषी भूभाग जर्मन साम्राज्य

के नाम पर सुगठित हो चुका था, रूस और ब्रिटेन का उसे पूरा सहयोग मिला। परन्तु ये दोनों देश एशिया को घेर रहे थे। रूस प्रशान्त सागर में पैर बढ़ाता रहा और ब्रिटेन भारत में। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ ही से ब्रिटेन की शक्ति सन्तुलन नीति रूस के विरुद्ध पड़ने लगी। रूस की आवश्यकताएँ बहुत थी। व्यापक व्यापार से लाभ उठाने के लिए उसे निष्कंटक जल मार्ग प्राप्त नहीं थे। आर्कटिक सागर उत्तर में सदा हिमाच्छादित रहता था, पश्चिम का बाल्टिक समुद्र शरद में बर्फ से जम जाता था। अब केवल दक्षिण का काला सागर था—पर कालेसागर और भूमध्य सागर के मध्यवर्ती जल मार्ग तुर्कों के आधीन थे, इस लिए रूस को तुर्किस्तान से छेड़छाड़ करनी पड़ी। जब ब्रिटेन ने देखा—कि रूस तुर्की की केन्द्रीय शक्ति को नष्ट करने की ताक में है—तो वह चुप न रह सका; और उसने तुर्की को सहारा दिया; इससे उसे साईप्रसद्वीप मिल गया। रूस की आशा फलवती नहीं हुई। इसके बाद जब रूस ने पूर्व की ओर हाथ फैला कर अफगानिस्तान को स्पर्श करना चाहा, तो चौकन्ने होकर अंग्रेजों ने अफगानिस्तान को अपनी सुरक्षा में ले लिया—और रूस से अंग्रेजों का युद्ध होते २ रह गया। पर रूस हिम रहित बन्दरगाह की खोज में परेशान था! वह मंचूरिया की ओर बढ़ा, परन्तु अंग्रेज बेखबर नहीं थे। उन्होंने रूस का प्रभाव कम करने के लिए जापान से दोस्ती करली। और जापान को रूस से भिड़ा दिया। रूस जापान युद्ध हुआ, अंग्रेज रूस की पराजय का तमाशा देखते रहे। इस युद्ध में पराजित होने से रूस बहुत कमजोर हो गया। अब जर्मनी ने पैर निकाले। जर्मनी बुद्धिमानों और मिहनत कश लोगों का देश था, उसे अपनी ही भूमि में बहुत सा कोयला और लोहा मिल गया था। उसने उन्नीसवीं शताब्दि के अंत तक विज्ञान और व्यापार में इतनी उन्नति करली कि अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में वह ब्रिटेन को ललकारने लगा। पर उसे उपनिवेश प्राप्त न थे। वह

उपनिवेशों के लिए छटपटाने लगा। उसका पड़ोसी फ्रान्स था, योरोपीयन शक्ति का नेता ब्रिटेन था, और रूस प्रति स्पर्द्धी था। उसके राष्ट्रीय स्वार्थ इन तीनों से टकराने लगे। जब रूस ने अफगानिस्तान पर ब्रिटेनका संरक्षण स्वीकार कर लिया, और फारस के प्रभाव क्षेत्र का बटवारा कर लिया—जिससे उत्तरी भाग रूसियों का और दक्षिणी अंग्रेजों का हो गया—तो जर्मनी शक्ति संतुलन नीति के क्षेत्र में आगया—और तभी से ब्रिटेन उसकी बढ़ती हुई शक्ति को नष्ट करने की ताक में रहने लगा। अत में सन १९१४ में प्रथम योरोपीय युद्ध छिड़ ही गया। यह युद्ध मानव इतिहास में पिछले सब युद्धों से अनेक विशेषताएँ रखता था। पिछले युद्धों में सेनाएँ लड़ती थीं और जनता को केवल युद्ध व्ययका भार ही सहन करने का कष्ट उठाना पड़ता था—पर इस युद्ध में प्रथम बार लड़ने वाले राष्ट्रों के सब वयस्क नागरिक स्त्री पुरुषों को सामरिक सेवा के लिए संगठित होना पड़ा। उन्हें योद्धा तो देने ही पड़े, रसद-गोला बारूद बनाने के लिए कारखाने और उनमें काम करने वाले श्रमिकों को जुटाना भी पड़ा। घरों और कारखानों में स्त्रियों को सैनिकों के लिए वस्त्र और भोजन के पदार्थों का संग्रह और निर्माण करना पड़ा। अस्पतालों में घायलों की सुश्रूषा करनी पड़ी—चूंकि यह व्यापक राष्ट्रों का युद्ध था। अतः योरोप के बाहर भी राष्ट्रों पर इसका प्रभाव पड़ा। इस प्रकार यह युद्ध राजाओं का राज्यलिप्सा के लिये युद्ध न था—राष्ट्रोंका राष्ट्रीय भोग तृष्णा-वासना पूर्तिका युद्ध था। इस लिए समूचे समाज को ही इसका भोग भोगना पड़ा। इसमें प्रथम बार पनडुब्बियों का प्रयोग हुआ, जिससे सामुद्रिक शान्ति भंग हो गई, और अमेरिका की भी तटस्थता भंग हो गई। इससे प्रथम युद्ध होते थे और फिर संधियों की बातचीत होने लगती थीं। पर यह संसार का पहिला युद्ध था जिसमें युद्ध अकल्पित युद्ध क्षेत्र में फैल गया। युद्ध का पश्चिमी क्षेत्र स्विट्जरलैण्ड तक पाँच सौ मील से भी कुछ अधिक लम्बा था। और पूर्वी क्षेत्र बाल्टिक

सागर से कृष्णसागर तक एक हज़ार मील लम्बे क्षेत्र में फैला हुआ था। इस युद्ध में रूस, फ्रान्स, जर्मनी, आस्ट्रिया, ब्रिटेन, इटली, यूनान, और तुर्की ने योग दिया। इस युद्ध में दो विरोधी गुट बने—एक में वे राष्ट्र थे—जिनके पास यथेष्ट साम्राज्य और धन था। दूसरे में वे—जिन्हें इनसे कुछ छीनना था। युद्ध का अन्त साम्राज्यों के पक्ष में हुआ तो; परन्तु इसकी प्रतिक्रिया ऐसी हुई कि इन विजयी राष्ट्रों की साम्राज्य सत्ता डगमगा गई। खास कर रूस में तो नई निराली क्रान्ति हो गई। यह युद्ध कोई सवा चार वर्ष चला, इसमें लगभग दस लाख अंग्रेज, और १४ लाख फ्रान्सीसी युवकों की हत्या हुई। लगभग तीस लाख पुरुष अङ्ग भङ्ग होने के कारण अपंग हो गए। और लगभग एक हज़ार अरब रुपया स्वाहा हुआ।

धन जन की इस भयंकर हानि ने राष्ट्रीयता के इस ढाँचे को हिला डाला। परन्तु इस धन जन की हानि से भी अधिक घातक प्रभाव राष्ट्रीयता पर पड़ा रूस की बोलशेविक क्रान्ति का। बर्फ से अवरुद्ध रूस की सामुद्रिक सीमाएँ उसके अन्तर राष्ट्रीय व्यापार में बाधा डाल रही थीं। वह व्यापार में ही केवल पीछे न रह रहा था, निर्धन और निरक्षर भी हो रहा था। टालसटाय ने सर्व प्रथम रूसी जनता में ज़ार के निरंकुश शासन के विरुद्ध तथा श्रमिक किसानों के पक्ष में क्रान्तिकारी विचार प्रकट किए। जापान से हार कर ज़ार शाही के दम खम ढीले हो गये थे, घोर दमन के बावजूद भी वह टिक न सकी और लेनिन के नेतृत्व में सन् १७ में समाजवादी सोवियत संघ शासन रूस में स्थापित हो गया। जनवरी सन् २४ में लेनिन की मृत्यु हुई और स्टालिन सोवियत संघ का नेता बना। उसने पंचवर्षीय योजना बना रूसकी आन्तरिक शक्तियों को बहुत दृढ़ किया। उसका ध्रुव ध्येय रूस को शक्तिशाली बनाने का था। रूस का यह सोवियत संघ—साम्राज्यवाद के नेता ब्रिटेन—फ्रान्स—हालेण्ड के लिए परम घातक प्रमाणित हुआ। युद्ध को जीतने से यद्यपि ब्रिटिश और

फ्रांसीसी राज्य सीमाएँ बढ़ गई, परंतु उनकी आंतरिक शक्तियाँ घट गई। इससे दोनों साम्राज्यों के भीतर विद्रोह बढ़ने लगे। उधर विभाजित योरोप में भी पारस्परिक कलह की बाढ़ आ गई। और प्रथम महायुद्ध के पच्चीस वर्ष बाद ही दूसरा महायुद्ध उठ खड़ा हुआ। यह युद्ध महा विनाशक और प्रथम युद्ध से भी व्यापक तथा विश्व युद्ध था। इसमें उन्नत नूतनतम वैज्ञानिक आविष्कारों ने हिंसा और मृत्यु का नंगा नाच नचाया। तेल की शक्ति ने युद्ध का रंग ही बदल दिया। रबर के पहियों पर चढ़कर हिटलर ने दोही सप्ताह में वीर पौलिश घुड़सवारों को मार गिराया। नीचे टैन्क—बख्तरबन्द मोटर और मोटर साइकिलों पर सवार आधुनिकतम शस्त्रों से सज्जित सेना और ऊपर बम बरसाने वाले तथा छत्रीधरों को उतारने वाले वायुयान। संसार प्रतिदिन प्रातःकाल आश्चर्यचकित होकर हिटलर के चमत्कारों को सुन २ कर विमूढ़ होता रहा। पोलेन्ड से निबट कर हिटलर डेनमार्क और नार्वे के रुख उड़ा। डेनमार्क बिना लड़े आधीन हो गया, नार्वे कुछ लड़कर आधीन हुआ—हालेण्ड और बेल्जियम को पन्द्रह दिनों में धराशाही कर हिटलर रबर के पहियों पर सवार हो फ्रान्स की गर्वीली भूमि पर आ धमका। फ्रांस ने जंगी तैयारियों के रहते भी हथियार रख दिए। पैरिस का पतन हुआ। अब उसने ब्रिटेन पर उड़ान भरी। इसके वायुयानों ने ब्रिटेन के नगरों को बम्बार्ड करना प्रारम्भ कर दिया। यह पहिला ही अवसर था कि ब्रिटेन की जल शक्ति उसकी रक्षा न कर सकी। पनडुब्बियों ने उसके जहाज डुबो दिए, परन्तु अमेरिकाके शस्त्रोंकी सहायता से अंग्रेज बच गए। अब हिटलर और उसके दोस्तों ने बाल्कन प्रदेशों की ओर रुख किया। रूमानिया और बलगेरिया उस से मिल गए। यूनान पर इटली ने आक्रमण किया और उसकी सहायता के लिए जर्मन सेनाएँ यूगोस्लेविया को चीरती हुई यूनान पर जा पहुँचीं। इसके बाद ही उसने अचानक रूस पर धावा बोल दिया। संसार ने देखा कि बाइस जून के प्रातःकाल में दो हजार

झील के क्षेत्र में दस लाख जर्मन सेना रूस पर बढ़ी चली आ रही है। इस मौके पर झट ब्रिटेन ने रूस से दोस्ती गाँठ ली। इस आक्रमण के परिणाम स्वरूप अमेरिका और जापान भी युद्ध की आग में कूद पड़े। और अब यह विश्वयुद्ध का रूप धारण कर गया। उधर अमेरिका के उड़न किले मित्र राष्ट्रों की रक्षा के लिये निकल पड़े, इधर जापान ने दिग्विजय प्रारम्भ कर दी। हिटलर की विजयवाहिनी चरमसीमा को पहुँच चुकी थी, वह कैस्पियन सागर के निकट स्टालिन ग्राड तक जा पहुँची।

अब योरोप को हिटलर के सर्वग्रासी पंजे से बचाने के लिए ब्रिटिश-अमेरिका की सम्मिलित शक्ति ने योरोप की भूमि में फिर से प्रविष्ट होने की योजना बनाई। उन्होंने प्रथम उत्तरी अफ्रीका पर अधिकार किया, फिर इटली पर। मुसोलिनी दलबल सहित नष्ट कर डाला गया। अब वे फ्रांस का पुनरुद्धार करने के लिए आगे बढ़े। हिटलर को विवश हो योरोप की ओर मुड़ना पड़ा। अब उसे दुरुखा युद्ध करना पड़ा। रूस ने उसे पीछे खदेड़ना शुरू किया, और अंत में बर्लिन में घिरकर हिटलर को आत्मघात करना पड़ा। जर्मन की पराजय हुई। अब जापान की बारी थी, अन्त में वैज्ञानिक उन्नति और हिंसा की पराकाष्ठा ६ अगस्त १९४५ के दिन दुनियाँ ने देख ली—जब जापान के दो सम्पन्न नगर अणु बम से भस्म कर दिए गए। इसके दो दिन बाद रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी, और उसके दो दिन बाद जापान ने हथियार रख दिए।

इस प्रकार यह महाविनाशक युद्ध छै वर्ष तक अपार धनजन का नाश करके समाप्त हुआ। व्यापक संहार का भार दोनों ही पक्षों पर रहा। पर पराजित पक्ष के नेता अपराधी ठहराए गए और उन्हें प्राण दण्ड दिया गया। इस युद्ध ने साम्राज्यों की रीढ़ को तोड़ डाला। विश्व-शक्तियों में अमेरिका को प्रथम स्थान मिला। पुरानी दुनिया में समष्टी-वादी रूस की सर्वोपरि शक्ति मान ली गई। ब्रिटेन-हालैण्ड और फ्रांस

को अपने ऐशियाई साम्राज्यों से हाथ धोना पड़ा! फ्रांस का घोर पतन हुआ।

युद्ध समाप्त हो गया, साम्राज्य विध्वंस हो गए, परन्तु राष्ट्रीयता का कंकाल अभी तक खड़ा है। वह संसार के भूखे-नंगे-रोगी और असहाय भयभीत मनुष्यों को तीसरे भीषण युद्ध के लिए उकसा रहा है। कोरिया में हिरोशिमाके हत्यारे अमेरिकन अपने डालर के जोर से मनुष्यों का लोहू बहा रहे हैं। लोग मृत्यु नहीं चाहते, युद्ध नहीं चाहते, परन्तु ये राष्ट्रपन्था पूँजीवादी उन्हें आराम से बैठने नहीं देते। आवश्यकता है कि सारे संसार के मनुष्य एक स्वर से चिल्लाएँ—राष्ट्रीयता का नाश हो, पूँजीवाद का नाश हो।

मैं कहता हूँ—मेरा कोई राष्ट्र नहीं है, मेरा कोई देश नहीं है, संसार के सब मनुष्य मेरे भाई हैं, मेरा कोई मनुष्य शत्रु नहीं है, मैं कभी किसी से नहीं लड़ूँगा! लड़ाई और झगड़े की जड़ इस राष्ट्रीयता का नाश हो, दूसरों के पसीनों की कमाई पर मौजमजा करने वाले खूनी हत्यारे पूँजीवाद का नाश हो! मनुष्य को अभय—मनुष्य को अभय—मनुष्य को अभय! हम सब एक हैं!

४

'स्वाधीनता' गुलामों की आवाज़

'स्वाधीनता' गुलामों की आवाज़ है। यह आवाज़ एशिया भर की संयुक्त आवाज़ है इसका कारण यह है कि जब से योरोप में राष्ट्रीयता का उदय हुआ है तब से योरोप के सभी राष्ट्रों ने सम्पूर्ण एशिया को अपनी दासता में जकड़ कर बाँध रखा है। दोनों महायुद्धों से प्रथम तक तो योरोप के घमण्डी राष्ट्र एशिया के सब नर-नारियों को अपना जीवित शिकार समझते रहे थे, उनका यह विश्वास था कि हम चिरकाल तक इस शिकार का स्वादिष्ट मांस खाते रहेंगे। परन्तु युद्ध ने उन्हें सही रास्ता दिखा दिया—वे समझ गए कि यह राष्ट्रीयता ही भयानक विष है, और अब वे इस राष्ट्रीयता के बन्धनों को तोड़-फोड़कर एक महाराष्ट्र बनने की सोचने लगे हैं। परन्तु इससे क्या? जब तक वे राजनैतिक और आर्थिक गुलामी से पार नहीं पा लेते और विशुद्ध सांस्कृतिक एकता की राह पर नहीं चलते—उनका निस्तार नहीं है। वे हलाहल विष तो पी चुके। अब उसकी ज्वाला से छटपटा रहे हैं—कहा नहीं जा सकता, वे बच सकेंगे या नहीं। परन्तु बचने की तो एकही राह है कि वे मानवधर्म अपनाएँ, और कर्तव्य को अपना आदर्श बनाएँ तथा अधिकार का सर्वथा ही त्याग करें। इसी में उनकी भलाई है—नहीं तो उनकी खैर नहीं। अभी तो गत दोनों युद्धोंमें उनके लाखों जवान बेटे कुत्ते की मौत मरे हैं, उनकी लाखों पुत्रियाँ विधवा होकर रोई हैं। लाखों बच्चे बिना बाप के हुए हैं। उनका सारा धन स्वाहा हो चुका है। उनकी सारी अकड़ समाप्त हो चुकी है। वे सब जगह से निकाले—भगाए और दुत्कारे जा

रहे हैं। वे बेंत से पीटे हुए कुत्ते की भाँति अब मोर्चा छोड़कर भागने लगे हैं। पर अभी हुआ क्या है? अभी तो उन्हें भूख प्यास और महामारी से बीच सड़क पर कीड़ों-मकोड़ों की भाँति मरना है। 'हिरोशिमा' का खून रंग लाएगा, उसकी प्रतिक्रिया उनके नगरों पर—बालबच्चों पर, होनी है। विनाश का नग्न नृत्य उनके आँगन में होना है। जो बबूल उन्होंने बोए हैं—उनके काँटों पर उन्हें चलना है।

परन्तु मैं फिर एशिया की ओर आता हूँ। यह तो आप जानते ही हैं कि योरोपियनों के संसर्ग से एशिया वासियों में भी राष्ट्रीयता का जहर घुस गया है, उसी ने उनकी दासता से मिलकर उनके मुँह से 'स्वाधीनता' की चीत्कार ऊँची उठाई है। परन्तु स्वाधीनता की पुकार करने वालों को यह न भूल जाना चाहिए कि वे यह नाग बुलन्द करके अपने ही से विद्रोह कर रहे हैं, अपने ही समाज में आग लगा रहे हैं।

आप शायद कहना चाहेंगे—कि गुलामी के बन्धन तोड़ने के लिए स्वाधीनता ही एक ज़ोरदार आवाज़ है। परन्तु मैं आपकी बात मानने से इन्कार करता हूँ। गुलामी के बन्धन स्वाधीनता की पुकार करने से नहीं कटेंगे—अपने में साहस तेज और अहिन्सा तथा औरों के साथ सहयोग करने से कटेंगे। क्या मैं आपको उस भेड़ के बच्चों की बात सुनाऊँ—जो इस बात से सख्त नाराज था—कि उसे और उसकी माँ को मालिक क्यों बाँड़े में बन्द करके दरवाजे पर ताला लगा देता है, शिकारी कुत्ते क्यों स्वच्छन्द छोड़ दिए जाते हैं। इस बन्धन का क्यों नहीं उसकी माता विरोध करती है। परन्तु उसकी माँ कहती थी—पुत्र, यह बन्धन नहीं, अनुशासन है, सुरक्षा है। पर वह बच्चा समझता नहीं था। वह एक दिन अवसर पाकर सन्ध्याकाल में जब सब भेड़ लौट रही थी, एक चट्टान की आड़ में छिप गया। सारी भेड़ वापस बाड़े में आ गईं, पर वह बच्चा हरी-हरी घास पर उछल कर किलोल करने लगा। अस्तंगत सूर्य के सुनहले प्रकाश में उसे अपना यह स्वाधीन विचरण बड़ा ही प्यारा

लग रहा था, परन्तु शीघ्र ही अंधकार फैल गया—और भेड़ियों की गुर्राहट उसके कान के निकट आने लगी। उसने अपनी भूल समझी—परन्तु अब क्या हो सकता था। शीघ्र ही उसे अपनी गर्दन पर एक दबाव प्रतीत हुआ, और उसी का गर्म-गर्म रक्त उसके खुरों को तर करने लगा।

मनुष्य सामाजिक जीव है, इसी से वह नगर बसाकर रहता है। विज्ञान ने संसार को समेट कर बहुत छोटा कर दिया है, और अब मनुष्य का संबन्ध विश्व व्यापी हो गया है। अब युद्ध—संघर्ष के दिन बीत जाने चाहिए। अब तो विश्व एकता और पारस्परिक सहयोग का काल उपस्थित हो गया है। अब मनुष्य को स्वाधीन होने की नहीं—सबसे सहयोग करने की—एक संयुक्त विश्व समाज बनाने की—जिसका आधार प्रेम और कर्तव्य हो—सोचना चाहिए। अधिकार का मद उसे त्याग देना चाहिए। उसे यह भी न सोचना चाहिए कि स्वाधीनता की भावना नष्ट हो जाने पर वह दासता के फन्दे में फँस जायगा। दासता तो उसे भी भोगनी ही पड़ती है, जो स्वाधीन होने की भरसक चेष्टा करता है। यदि वह दासता की परिस्थिति में पहुँच चुका है। स्वाधीनता के विष ने भारत को ठीक उस समय विभाजित कर दिया, जब उसे एक होने का पूरा लाभ उठाना था। हिन्दु मुसलमान दोनों ही परस्पर का विश्वास और प्रेम खो बैठे। और इतने दिन साथ २ गुलामी के दुख झेल कर भी मुक्ति का आनन्द से स्वागत न कर सके। अब दोनों ही दुःखी है। और दोनों ही दोनों पर संदेह करते हैं। पाकिस्तान से पख्तन निकलना चाहता है। हिन्दुस्तान से शायद जाटस्थान या सिखस्थान। गुटबन्द दल ही इस स्वाधीनता के जहरीले नशे में चूर नहीं। आज तो पति से पत्नी, पत्नी से पति, भाई से भाई, पिता से पुत्र और मित्र से मित्र स्वाधीन रहने ही में जीवन का लाभ समझ रहे हैं। जिससे समाज में एकता—विश्वास और शान्ति छिन्न-भिन्न हो रही है। अरे मेरे भाई,

जरा उस अपने मकान की ओर दृष्टि कीजिए—उसकी ईंटों को आपने एक पर एक रखकर जो दीवार बनाई है, इसके खिलाफ ये ईंटें आपसे फर्याद कर रही हैं। वे आपके अन्याय का विरोध करती हैं। आपने उन्हें एक पर एक मिला कर रखा क्यों? उनकी दीवार चुनी क्यों? ये ईंटें स्वाधीन होना चाहती हैं। अरे स्वाधीनता के पुजारियों, इन ईंटों को स्वतन्त्र कर दो। मकान को ढहा दो, ईंटों को बखेर दो, और फिर आप खुद भी बिखर जाओ। संसार को स्वाधीनता का सच्चा रूप देख लेने दो।

आप नगर गाँव बस्ती बसाते हैं, परस्पर मिलजुल कर। आप व्यापार करते हैं फर्म बनाकर, कम्पनी बनाकर। आपने इस प्रकार पारस्परिक सहयोग से बड़े २ उद्योग केन्द्र स्थापित किए हैं, बड़े २ नगर बसाए हैं। बैंक, कम्पनियाँ, और भारी २ कारोबार संसार भर में आप कर रहे हैं। वायुयान और रेडियो द्वारा आपने सारे संसार से सहयोग स्थापित कर रखा है। यह सब आप खत्म कर दीजिए। केवल स्वाधीनता की बाँग लगाइए। और सारी सभ्यता—विकास—नागरिकता—कारोबार—उद्योग धन्धों का आमूल सत्यानाश कर डालिए।

परन्तु यदि आप अपने जीवन का विकास अधिकाधिक पारस्परिक सहयोग पर निर्भर रखते हैं, तब आप पारस्परिक सहयोग को ही जीवन में आत्मसात कीजिए। स्वाधीनता के भूत को मस्तिष्क से निकाल डालिए। जहाँ स्वाधीन होने की चाह नहीं—वहाँ दासता की भी हस्ती नहीं। समसहयोग जीवन की सब से बड़ी सफलता है।

५

'धर्म' धोबी का कुत्ता

'धर्म' दुनिया का सबसे बड़ा झूँठ है। वह कोरे मिथ्या विश्वास पर आधारित है। बिना किसी प्रमाण के विश्वास करना, एक रहस्य को दूसरे रहस्य से समझना, यह विश्वास करना कि संसार में जो कुछ होता है—अकस्मात् ही होता है। संसार के कामों—कार्य कारण के वास्तविक सम्बन्धों, पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जादू, टोने, दैवी शक्तियाँ, मन्त्र, चमत्कार, स्वप्न, भविष्यद्वाणियों—प्रकृति के परे की शक्तियों में विश्वास रखना, चेतन से जड़ की उत्पत्ति हुई है और उसी का उसपर अधिकार है, यह विश्वास उत्पन्न करना, 'धर्म' का सबसे स्थूल और मुख्य स्वरूप है।

धर्म का यह मायामहल अन्धविश्वास पर खड़ा किया गया है, उसकी दीवारें अन्धीश्रद्धा से बनी है, उसकी छत है ही नहीं। यह 'धर्म' अज्ञान का पुत्र है। और दुनियाँ के मनुष्यों में दुःखदर्द फैलाना इसका पेशा है। संघर्ष, घृणा और खून खराबी इसकी नीति है। हज़ारों वर्षों से इस धर्म ने मनुष्य जाति को नाकों चने चबाए हैं, करोड़ों मनुष्यों का खून पिया है, हज़ारों कुल बधुओं को ज़िन्दा जलवाया है। असंख्य पुरुषों को ज़िन्दा से मुर्दा बनाया है। धर्म के कारण युधिष्ठिर ने जुआ खेला—राजपाट हारा, भाइयों और स्त्री को भी जुए के दाव पर लगा कर गुलाम बनाया, फिर भी किसी माईके लाल ने उसकी ओर उँगली नहीं उठाई। वे धर्म के बेटे जो ठहरे, जो करें सो ठीक। धर्म ही के कारण द्रोपदी ने पाँच पति किए। अर्जुन और भीम जैसे बलवान् पुरुषों के सामने

द्रौपदी पर अत्याचार किए गए। पर धर्म के कारण वे योद्धा मुर्दों की भाँति बैठे देखते रहे। धर्म ही के कारण भीष्मपितामह और गुरु द्रोणाचार्य ने पाण्डवों के साथ कौरवों के पक्ष में युद्ध किया। धर्म ही के कारण अर्जुन ने भाइयों और सम्बन्धियों के खून से धरती को रंगा। धर्म के कारण ही भीष्म आजन्म कुँवारे रहे। कुरुओं की कुल वन्धुओं ने अन्य पुरुषों से सहवास करके संतान उत्पन्न की। धर्म के कारण राम ने बनोवास भोगा। धर्म के कारण रामको दशरथ ने बनोवास दिया। धर्म के कारण सीता को राम ने त्यागा। शूद्रतपस्वी को मारा, विभीषण को राज्य दिया। धर्म के कारण राजा हरिश्चन्द्र ने राज-पाट छोड़ भंगी की दासता की, स्त्री को बाजार में बेचा। धर्म के कारण बलि ठगे गए, धर्म के कारण राजपूतों ने सिर कटाए—उनकी स्त्रियाँ आग में भस्म हुई। रक्त की नदियाँ बहीं। धर्म ही के कारण बुद्ध—शंकर—कुमारिल—दयानन्द और चैतन्य ने कठिन जीवन व्यतीत किए। धर्म ही के कारण हमारे घरों में तीन करोड़ विधवाएँ चुपचाप आँसू पीकर जी रही हैं। करोड़ों अछूत कीड़े-मकोड़ों की भाँति बने हुए हैं। धर्म ही के कारण पाखण्डी, अपढ़, ढोंगी ब्राह्मण सर्वपूज्य बने हुए हैं। धर्म ही के कारण भद्दी और अश्लील मूर्तियाँ पूजनीय बनी हुई हैं। धर्म ही के कारण पत्थर को परमेश्वर कहने वाले पेशेवर गुनहगार पुजारी लाखों स्त्री पुरुषों से पैर पुजाते हैं, धर्म के कारण ही भंगी प्रातःकाल होते ही अपनी बहू बेटियों सहित औरों का मलमूत्र सिर पर ढोता है, धर्म ही के कारण आज हिन्दू मुसलमान और ईसाई एक दूसरे के जानी दुश्मन बन गए हैं। धर्म ही के कारण सिखों ने मुगल काल में अपने अंग कटवाए, बच्चों की दीवार में चुनवाया! धर्म ही के कारण रोमन कैथोलिकों के भीषण अत्याचार की भेंट लाखों ईसाई हुए। धर्म ही के कारण नीरो ने लाखों ईसाइयों को मसाल की भाँति जलवाया। धर्म ही के कारण मुसलमानों ने पृथ्वी-भर को रौंद डाला, और मनुष्य के गर्म खून से तलवार रंगी। धर्म के

लिए सिपाही युद्ध में मनुष्यों की हत्या करता है। धर्म के कारण वेश्याएँ अपनी अस्मत बेचती हैं। धर्म ही के कारण कसाई हत्या करता है। धर्म ही के कारण मन्दिर में बलि दी जाती हैं। क्या आप कभी इस बात पर भी विचार करेंगे, कि हज़ारों वर्षों से पृथ्वी भर में ऐसे उत्पात मचाने वाला यह महा भयानक धर्म आखिर है क्या? यह क्यों नहीं मनुष्य को मनुष्य से मिलने देता? क्यों नहीं मनुष्य को आज़ाद रहने देता। इसने शैतान की तरह दिमाग को गुलाम बना दिया है। इस धर्म के नाम पर हत्या, पाखण्ड, छल-कपट, व्यभिचार, जुआ चोरी, हरामखोरी, बेवकूफी, ठगी, धूर्तता, अपराध और पाप सभी किए जाते रहे हैं। धर्म के नाम से ऐसी बहुत सी चीजें बेची जाती रहीं हैं। जिनका धर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं हैं। नदियों में नहाना धर्म, चिऊँटियों को जिमाना धर्म, कपड़ा पहना धर्म, गरज़—चलना-फिरना, उठना-बैठना सभी में धर्म का असर घुसड़ गया।

इस नक़ली, झूठे और निकम्मे धर्म का भाव भी बहुत ऊँचा चढ़कर उतरा। रोम के पोप, मरने वालों से उनके पाप स्वीकृत कराकर स्वर्ग के नाम हुण्डी लिखाते थे। लाखों रुपये हड़प लेते थे। गया के पण्डे स्त्रियाँ तक दान करा लेते थे। काशी और प्रयाग में लोग प्राण देते थे। परन्तु आज कल धर्म की दर कूड़े कर्कट से भी बदतर हो गई है। मन्दिर के पत्थर के सामने एक पैसा फेंक देने से धर्म हो जाता है। फटे कपड़े किसी भिखारी को दे डालने से धर्म हो जाता है, किसी खास नदी में गोता लगाने से, बड़-पीपल के दो-चार चक्कर लगाने से, तुलसी का एकाध पत्ता चबाने से, गाय का पिशाब पीने से, एकाध दिन भूखा रहने से, और फिर भांति २ के माल-मलीदे उड़ाने से, माथे पर साढ़े ग्यारह नंबर का साइन बोर्ड लगाने से, रास्ते चलते किसी सिन्दूर लगे पत्थर को सिर नवा देने से, अगड़म-बगड़म कोई खास श्लोक जप करने, नंगा बैठकर और मेढ़क की भाँति उछल कर चौके में जाकर खाना खाने से, धर्म

होता है। रात को न खाने से, हाथों से बाल नोचने से, गंदा पानी पीने से, मनों घी सामग्री हवन करने से भी धर्म होता है।

क्या इन बात पर लोग विचार ही न करेंगे कि आखिर यह धर्म है क्या बला? और मनुष्य क्यों उसके पंजे में फँसा है? जातियाँ इस धर्म के धक्के खा-खाकर नेश्तनाबूद हो गईं। बौद्धों ने आधी पृथ्वी को एक बार अपने चरणों में झुकाया पीछे उन्होंने रक्त की नदियाँ बहाईं। अन्त में नष्ट हुए। ईसाइयों ने मनुष्यों में हाहाकार मचा दिया, मुसलमानों ने शताब्दियों तक मनुष्य को सुख की नींद न सोने दिया, यह धर्म मनुष्य की छाती पर एक काला पर्दा बन कर छाया हुआ है, मनुष्य इसके पीछे मर मिटा—पर अभी भी सचेत नहीं हुआ।

इस हत्यारे राक्षसने किस प्रकार जातियों को तबाह किया है—इसके ज्वलंत उदाहरण रोम और स्पेन हैं। दो हज़ार वर्षों तक परमेश्वर का यह एजेन्ट इटली में रहा। वहाँ के पोप और पादरी सारे योरोप को बंदर की भाँति इशारों पर नचाते रहे। सारा देश—मठों, गिरजों, पादरियों साधुओं और साध्वियों से भर गया। योरोप के श्रद्धालुओं ने इन पादरियों को, मठों को धन से भर दिया। सभी सड़कें रोम की ओर जाती थीं, ये सभी सड़कें भेंट लेने जाने वाले यात्रियों से भरी रहतीं थीं। अन्त में इसी धर्म ने इटली का बेड़ा गर्क किया। उसका पतन होता ही गया और अन्त में वह मर गया। मेजिनी, गेरी लडी, और कावूर ने उसे बचाने के उद्योग किए, पर उसकी दरिद्रता और विपत्तियों का अन्त न रहा। जिसके पूरे जिम्मेदार परमेश्वर के बेईमान और झूठे एजेन्ट ये पादरी लोग थे।

स्पेन की कभी आधी दुनियाँ पर हुकूमत थी। सारे संसार का सोना-चाँदी उसके अधिकार में था। यह वह ज़माना था—जब संसार की सभी जातियों की गर्दनें धर्म के फौलादी पंजों में फँसी थीं, और लोगों की आँखों पर धर्म का पर्दा पड़ा था। योरोप की दूसरी जातियों ने सोचना

समझना शुरू किया—पर स्पेन धर्म से चिपटा रहा। दूसरे देशों में पोप की फाँसी काट दी गई थी-परन्तु स्पेन में नहीं। योरोप में विज्ञान का सूर्य चमका—पर स्पेन में नहीं। वह माला जपता रहा, प्रार्थनाएँ करता रहा, आत्मा की रक्षा करता रहा। उसे चमत्कारों पर, अलौकिकता पर, ईश्वर के इन एजेन्टों पर विश्वास था, ज्ञान पर नहीं। उसका यह धर्म अन्त में उसे खा गया। स्पेन ने अपने को नष्ट कर डाला। ज्ञान के प्रकाश से उसने आँखें बन्द कर करलीं, जिन्होंने ज़रा भी सोचने-विचारने का प्रयत्न किया, उसीको उसने तलवार के घाट उतार दिया। आग में जीता जला दिया। दूसरी जातियाँ योरोप में महान् होती गईं। और स्पेन का ह्रास होता गया। एक-एक करके उसके उपनिवेश उसके हाथ से निकलते गए, पर उसने अपना धन इन धर्म के ठेकेदारों को और दिमाग़ मिथ्या विश्वास को सौंप दिया था। उसने उदीयमान प्रजातन्त्र से युद्ध छेड़ दिया। बड़े-बड़े पादरियों ने उसकी सेना को आशीर्वाद दिए, मन्त्रों द्वारा दुआएँ दीं, मन्त्रों से पवित्र जल जहाजों पर छिड़का, ताबीज़ बाँधे, पर अन्त में उसकी दुर्गति हुई, उसके जहाज भस्म करके समुद्र गर्भ में दफना दिए गए। इस प्रकार स्पेन धर्म का शिकार हो गया। यही दशा पुर्तगाल, आस्ट्रिया, और जर्मनी की भी हुई। हिन्दुओं का भी बेड़ा इसी धर्म ने शर्क किया। कभी यज्ञों का बोल बाला था। बड़े-बड़े अश्वमेध और राजसूय यज्ञ होते थे। पुरोहित राजाओं को मन माना नाच नचाते थे। सर्व साधारण उनकी दासता करते थे। लोग अन्धे थे—बहरे थे, श्रद्धा और धर्म के पीछे भेड़ की भाँति चलते थे। पोप की भाँति ब्राह्मण लोग इनके सब दुःख दर्दों की दवा—दान—दक्षिणा यज्ञ—अनुष्ठान, तन्त्र मन्त्र बताते रहे—धन ऐंठते रहे। मध्य युग में भारत मन्दिरों से पट गया और मन्दिरों में देश भर की संपदा इकट्ठी हो गई।

सैकड़ों वर्ष तक यज्ञ संस्था चलती चली गई। कोई-कोई यज्ञ वर्षों में समाप्त होते थे, इन यज्ञों में क्या-क्या पाप पुण्य न होते थे? घोड़े

छोड़े जाते थे, उनके पीछे पीछे सेना चलती थी। राजाओं को व्यर्थ आधीन किया जाता था, दिग्विजय की जाती थी, खून की नदी बहाई जाती थी, राजा करोड़ों की सम्पदा ब्राह्मणों को दान कर भिखारी बन जाने में शान समझते थे। इसके बाद यज्ञों में पशु वध का दौर-दौरा हुआ, फिर तान्त्रिकों के हाथ में आकर मारण-मोहन-उच्चाटन-वशीकरण, भैरव-भैरवी-काली-कराली की सिद्धियाँ भी यज्ञों से होने लगीं। यज्ञों से बेटे पैदा कराए गए, मेह बर्षाए गए, शत्रु जय कराए गए। उपनिषद् वालों के दल ने यज्ञ का विरोध कर 'ब्रह्म' का ढकोसला खड़ा किया। बुद्धि को एकदम अन्धेर जंगल में ला भटकाया। ये अज्ञानी अपने को ज्ञानी कहते और खुश होते थे। बौद्धों ने यज्ञों की आँच ठण्डी की तो हिन्दू मूर्ति पूजा पर उतर आए। कोई शैव बना—कोई वैष्णव, कोई शाक्त। तीन में शताब्दियों तक खून खच्चर हुआ। तत्त्ववेत्ता और दार्शनिकों ने मनुष्य की बुद्धि को तर्क और वाद के चकाबू में खूब चक्कर खिलाए। स्मृतियों और धर्मसूत्रों ने जाति की जाति को नियमों में जकड़ दिया। अनगिनत जातियाँ, अनगिनत आचार, अनगिनत लोकाचार, बना डाले। पुराणों में बड़े-बड़े महात्म्य, श्रद्धा पैदा करने वाली कहानियाँ, नए-नए ढकोसले, और बे सिर पैर की बातें धर्म सम्पुट में भरकर रही सही कोर-कसर निकाल दी आज भी धर्म के ढकोसले चले ही जाते हैं। मन्दिरों में हजारों मूक पशुओं का बलिदान होता है। व्यभिचार तो अत्यन्त प्राचीन काल से सारे संसार में धर्म का अंग माना गया है। ईसा से पूर्व पाँचवीं शताब्दी में बाबल के लोगों की प्रत्येक स्त्री को अपने जीवन में एक बार देवी माईलिट्टा के मन्दिर में आकर, अपने को उस परदेसी पुरुष को सौंप देना पड़ता था—जो देवी को भेंट स्वरूप सबसे पहिले उसकी गोद में पैसा फेंकता था। इस धार्मिक व्यभिचार का यह अभिप्राय लगाया जाता था कि वह स्त्री कभी बाँझ न रहेगी। कालान्तर में देवता के पुजारी के साथ सम्भोग

करने से स्त्री के बोझ होने का भय नहीं रहता—यह विश्वास रहा।

पश्चिमी एशिया के दूसरे भागों में—जैसे साइप्रस, उत्तरी अमेरिका, पूर्वीय भूमध्य सागर के टापूओं और यूनान में मन्दिरों में ऐसे व्यभिचारों का चलन था। भारत में देव दासियों की प्रथा मन्दिरों में बहुत प्राचीन काल से है। दक्षिण में अब भी है। इसका काम भी यात्रियों के साथ व्यभिचार कराना ही है। शाक्त और वाम सम्प्रदाय में, तथा बौद्धों के सहजभाव में तो व्यभिचार एक धार्मिक अंग बन गया। तन्त्र ग्रन्थों में व्यभिचार के गन्दे से गन्दे विधान लिखे हैं। भैरवीचक्रकी स्थापना व्यभिचार मूलक ही है। अश्वमेध यज्ञ में तो जयमान की स्त्री को घोड़े से संभोग करने की आज्ञा दी गई है।

पण्डे, पुजारी, साधु, महन्त धर्म के एजेन्ट होने से ही ठाटका जीवन व्यतीत करते हैं। मूर्ति पूजा सबसे बड़ा धर्म पाखण्ड है। आज भी काशी—हरद्वार—गया—नाथद्वारा आदि नगरों में इस पाखण्ड का नंगा रूप देखा जा सकता है। ये मन्दिर तो पेशेवर गुनहगारों के झूँठ और बेईमानी की दूकाने हैं। इन मन्दिरों में पुजारियों ने इतनी सम्पदा इकट्ठी करली थी—कि सारी हिन्दू जाति का धन इन मन्दिरों में एकत्र हो गया था। भारत के सभी नगर इन धूर्त पुजारियों से भर गये थे। सन् ६१२ में जब मुहम्मद बिनकासिम ने दाहर को सिन्ध में पराश्त किया—तो उसे एक ही मन्दिर में ४० देगें ताम्बे की मिली थी—जिनमें १७१०० मन सोना भरा था। इसमें ६००० ठोस सोने की मूर्तियाँ थीं, जिनमें सबसे बड़ी तीस मन की थी। महमूदगज़नवी ने ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में नगर कोट के मन्दिर को लूटकर उसमें से ७०० मन अशर्फी, २०० मन सोने चाँदी के बर्तन, ७४० मन सोना, २०० मन चाँदी, और २० मन हीरा मोती पाया था। सोमनाथ के जगत्प्रसिद्ध मन्दिर में ५६ खम्भे लगे थे—जिनमें अनगिनत रत्न जड़े थे। लिङ्ग के ऊपर ४० मन वज़नी सोने की जंजीर से घण्टा लटक रहा था। वहाँ की

लूट में महमूद को जो दौलत मिली—उसकी गिनती नहीं हो सकती थी। आज भी नाथद्वारे के मन्दिर में उदयपुर राज्य के अनेक गाँव लगे हैं। इसके अतिरिक्त चढ़ावेकी बेशुमार आमदनी प्रथक् है। रोज सैकड़ों रुपयों का भोग ठाकुर जी को लगता है। अन्ध विश्वास का यह हाल है कि ठाकुरजी ही नहीं, पुजारीजी पर भी भक्तों को तन-मन-धन अर्पण करना पड़ता है। करोड़ों रुपयों के जवाहरात इन मन्दिरों में भरे पड़े हैं। भारत में और भी ऐसेही मन्दिर हैं। इनके पुजारी प्रायः मूर्ख, भंगेड़ी, लम्पट, और व्यभिचारी होते हैं।

साधु संतों को माल मलीदे खिलाना इस धर्म का दूसरा काम है। इसका रिवाज तो पुराना था पर बौद्ध काल में साधुओं की प्रतिष्ठा-खूब बढ़ी। बौद्ध साधुओं के लिये राजा महाराजा और सेठ साहूकारों ने बड़े २ विहार बनवाए, जो आगे चलकर मन्दिरों ही की भाँति दुराचार के अड्डे बन गए। अन्त में बख्तियार खिलजी ने भारत के प्रत्येक बौद्ध को काट डाला। और संघारामों और विद्यालयों को लूट लिया। अब भी भारत में पच्चीस लाख मुस्टंडे साधु हैं, जिनका पेशा गृहस्थों की गाढी कमाई हड़प करना, मौज उड़ाना, गृहस्थों की स्त्रियों से व्यभिचार करना है। ये लोग अधेले का गेरू और टका सिर मुड़ाई का देकर एक दम महात्मा बन जाते हैं। जिनके अनेक पन्थ हैं, बड़े २ मठ और गुरुद्वारे हैं। जिनमें लाखों की सम्पत्ति है। आलसी—आवारा और कर्जदार लोग इनके चेले बन जाते हैं, गाँजा, भांग, सुलफा—चरस पीना इनका धर्म होता है।

जोशी—मङ्गुरी, पत्रा देखकर शकुन मुहूर्त बताने वाले भूठों के सरदारों का दर्जा इनके बाद है। प्रत्येक शहर—गांव और कस्बों में मक्खी की औलाद की भाँति ये भिन भिनाते घूमते रहते हैं। और अवसर पाते ही स्त्रियों तथा मूर्खों को ठगते रहते हैं। अन्ध विश्वासों और वहमों के ये ठेकेदार हैं।

संक्षेप में हम कहना चाहते हैं कि यह धर्म सब देशों में, सब जातियों

में सदा असफल रहा। इसने मनुष्य को उदार और दयालु नहीं बनाया, उल्टे उसे दास और भिखारी बनाया। वह विज्ञान और खोजका शत्रु है। वह कभी मनुष्य को स्वतन्त्र नहीं रहने देगा। संयमी नहीं रहने देगा। ईमानदार नहीं रहने देगा।

सच्चा धर्म वह है—जहां मनुष्य-मनुष्य के प्रति उत्तरदायी हो, प्राणी मात्र के प्रति उत्तरदायी हो। धर्म वह है जहां मनुष्य अधिक से अधिक लोकोपकार कर सके। जहाँ हृदय और मस्तिष्क का पूर्ण विकास हो। दया धर्म है, सहनशीलता धर्म है, प्रेम धर्म है, उदारता धर्म है, सहायता धर्म है, सेवा धर्म है, त्याग धर्म है, उत्साह धर्म है। धर्म वह है जो प्रकाश और जीवन दे। भाइयों! इसी धर्मको अंगीकार करो।

६

'ईश्वर' घिसा पैसा

आइए, अब ज़रा इस घिसे पैसे को भी परखा जाय। हज़ारों लाखों वर्षों से दुनिया के लाखों-करोड़ों अरबों लोगों ने, राजाओं ने, सम्राटों ने, महाजातियों ने, महाजाति के नेताओं ने इसी घिसे पैसे की बदौलत अपने बड़े २ महाराज्य-साम्राज्य स्थापित किए, बड़े-बड़े कारोबार चलाए। आज भी यह पैसा लस्टम पस्टम बाजार में चल ही रहा है, पर अब लोग उसे ध्यान से उलट पुलट कर देखने-परखने लगे हैं। आप भी जरा देख भाल लीजिए।

कहा जाता है कि ईश्वर ने सब संसार को रचा है, वही संसार का मालिक है। संसार के सब काम उसी की इच्छानुसार होते हैं। बिना उसकी इच्छा के पत्ता तक नहीं हिल सकता। उसने हमें दुनियाँ की दौलत दी है। आग-हवा-पानी-सूरज-चाँद-आकाश-पृथ्वी, नक्षत्र-मेघ-आदि दिए हैं, इनके बिना हम एक क्षण भी नहीं जी सकते थे। उसने हमें धन-जन-स्त्री पुत्र, घर-द्वार और अधिकारों से सम्पन्न किया है। हमारा जीवन और उसका सारा ही सुख उसी की कृपा का फल है। हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए—उसकी उपासना करनी चाहिए।

और इसी विश्वास पर सारे संसार की सभ्य असभ्य जातियां उसकी अपनी २ रीतियों से पूजा करती रहीं हैं और कर रहीं हैं। यह कहा जाता रहा है कि यह परमेश्वर कुछ खास बातों से प्रसन्न रहता है, वे बातें और काम मनुष्य को करने चाहिए। इन कामों और बातों को हम 'धर्म' के नाम से पुकारते हैं। 'धर्म' किसी एक खास काम—सिद्धान्त

या बात का नाम नहीं है। बस अच्छा या बुरा जो भी काम ईश्वर की प्रसन्नता के लिए किया जाय वही 'धर्म' समझा जायगा। ऐसी ही धारणा संसार के मनुष्यों की रही है।

बलिदान की प्रथा संसार की बहुत सी सभ्य और असभ्य जातियों में अत्यन्त प्राचीन काल से रही है। यह बलिदान मनुष्य का भी और पशु का भी। वैदिक साहित्य में शुनःशेप और अजीगर्त के उदाहरण ही इस प्रश्न पर प्रकाश डालने को यथेष्ट हैं। शताब्दियों तक तो लोग यह विश्वास रखते रहे कि अपने प्यारे पुत्र के बलिदान से ईश्वर बहुत प्रसन्न होता है। अनेक भक्त जनों ने अपने पुत्रों के रक्त से हाथ रँगे, बाद में यह माना जाने लगा कि बैल—भेड़ या बकरे के खून से भी यह ईश्वर प्रसन्न हो सकता है, और यज्ञ हवन की आहूतियाँ पाकर भी संतुष्ट हो सकता है। और बदले में वर्षा, धूप और खेती में वृद्धि देता है, यदि ये बलिदान न दिये जाँय तो परमात्मा अकाल, भूख मरी, महामारी, बाढ़ और भूकम्प भेजता है।

परन्तु, क्या यह सच है कि ईश्वर ने सारी दुनिया को बनाया? अंधे, लगड़े, लूले, अपाहिज, कोढ़ी, बदमाश, लुच्चे, खूनी, डाकू, चोर, पागल, और गुनहगारों को भी उसीने बनाया? साँप, बिच्छू, शेर, भेड़िया, मक्खी-मच्छर, रोग कीटाणु भी सब उसीने बनाए? क्या यह सर्व शक्ति संपन्न और ज्ञान के भण्डार की रचनाएँ हैं? क्या यह सच है। कि सारे संसार पर उसी का हुक्म चलता है? क्या दुनिया की बड़ी २ खूनी लड़ाइयाँ उसी के हुक्म से हुई हैं? शताब्दियों सहस्त्राब्दियों तक मनुष्य दुनियाँ के बाजारों में भेड़ बकरी की भाँति गुलाम बनाकर जो बेचे गए, सो क्या उसी के हुक्मसे? खूनी चोर डाकू क्या उसी के हुक्म से खून-चोरी और डाकेजनी करते हैं? फिर तो इन लोगों को सजा नहीं मिलनी चाहिए? बड़े २ संत महात्मा, भक्त और सत्पुरुषों ने संसार में बड़े २ कष्ट झेले; अत्याचारियों के हाथों उन्हें

बड़ी २ सासत भुगतनी पड़ी ! सो क्या इसी ईश्वर की इच्छा से ? क्या परमात्मा ने जान बूझ कर महात्मा और धर्मात्मा पुरुषों को अत्याचारियों के हाथों से नष्ट हो जाने दिया ? क्या परमात्मा अपने भक्तों की रक्षा नहीं कर सकता ? क्या आँधी—तूफान, महामारी और अकाल उसी के हुक्म से आकर दुनियाँ को तबाह करते हैं ? इसी लिए क्या उस परमात्मा को दया सागर कहा जाता है ? सारे संसार में जो जीव जीव को खा रहा है—सो क्या उसी के हुक्म से ?

खैर, हम यह जानना चाहते हैं कि यदि परमात्मा है–तो यह कैसे माना जा सकता है कि वह नेक और दयालु हैं। यदि वह दयालु हैं—तो जब देखता है कि जेष्ठ की तपती दुपहरी में छाती का खूनजलाकर किसान अपना खेत बो रहा है—तो सूखा क्यों डाल देता है ? क्या वह नहीं जानता कि इस असहाय ग़रीब किसान का जीवन इसी खेती पर निर्भर है। वर्षा नहीं होगी तो इसके बाल बच्चे भूखों मर जाएँगे। वह दुखी जनों को ज़ार २ आँसू बहाते, लुच्चों को खुलकर हँसते देखता रहता है। भूख और रोग से बूढ़े माँ बाप की गोद में बालक और जवान बेटों को तड़प २ कर मरते देखता रहता है फिर भी उसे दया नहीं आती ? उसकी दया की बड़ी २ कहानी तो लोगों से सुनी हैं पर किसी आदमी के बच्चे ने देखी भी हैं।

यदि परमात्मा यह जानता था कि इन युद्धों में खून की नदी बहाई जाएँगी, काल और महामारी से लाशों से घर पट जाएँगे, माताओं की गोद सूनी हो जाएँगी–तो यह सब जान बूझ कर भी जो वह चुप बैठा रहा—इनकी रोक थाम नहीं की—तो उसकी दयालुता पर हम विश्वास नहीं कर सकते। नहीं कर सकते।

लोग कहते हैं कि परमात्मा संसार का स्वामी है। वह भक्तों की प्रार्थनाएँ सुनता है। अपराधी को दण्ड देता है, सेवक की मनोकामना पूरी करता है, दर्शन होने पर वर देता है। परन्तु क्या कोई

ऐसा आदमी है—जिसे ईश्वर ने सहायता दी ? क्या वह खुशामद पसंद नहीं है ?

शजब किया इस परमात्मा ने। धनवानों से कहा—मनुष्यों को मोल खरीद कर गुलाम बनालो और उनपर मनमाने अत्याचार करो। पुरुषों से कहा—तुम जितनी स्त्रियों से चाहो ब्याह करलो और जब तुम मरो तो सबको अपनी चिता पर जिन्दा फेंक डालो। स्त्रियों से कहा—तुम मरे पति के साथ जीती जल जाओ। राजाओं से कहा—तुम अपनी चाहे भी जिस इच्छा की पूर्ति के लिए लाखों तरुणों को युद्ध में कटवा डालो। प्रजा से कहा—राजा मेरा अंश है उसकी बात में दखल मत दो। ऐसा मन मानी करने वाला—दीन दुखियों की पुकार न सुनने वाला—दुनिया के दुःखको न देखने वाला—यह परमात्मा, अन्धा—बहरा—अन्यायी और निर्दयी मालूम होता है।

'ईश्वर' एक अचिन्त्य शक्ति है, वही जगत का मूलभूत 'तत्व है। वही जगत की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय का कारण भूत है। वह सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ, चैतन्य, और अनन्त-अनादि है। संसार में जो कुछ हो रहा है या होने वाला है—वह ईश्वरीय ज्ञान में निश्चित है। ईश्वर की इस व्याख्या को संसार के सब ईश्वर वादी लोग एक स्वर से सहमत होकर स्वीकार करते हैं। इसमें किसी का मतभेद नहीं है। उनमें जो मतभेद है—वह इस विषय में है कि ईश्वर और जगत का क्या सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में सात पक्ष हैं।

भारत के द्वैतवादी वैष्णवों का कहना है कि ईश्वर संसार से पृथक एक सत्ता है। वह विश्व प्रेरक है। जैसे रथका सारथी रथ से भिन्न होता है, तथा रथ को चलाता है—वैसे ही ईश्वर संसार से भिन्न है, तथा संसार को प्रेरणा देता है। जैसे मिट्टी से घड़ा बनाते हैं—सूत से कपड़ा बनाते हैं, वैसे ही वह ईश्वर अनादि जड़ प्रकृति से संसार को रचता है।

वह संसार का रचने वाला, संसार का स्वामी और कर्ता-धर्ता है। यह हुआ पहिला पक्ष।

दूसरा पक्ष श्रीवल्लभाचार्य, पैग़म्बर मुहम्मद, और मोनोथाइस्ट ईश्वर-वादियों का है। वे कहते हैं कि ईश्वर ने यह संसार अपने संकल्प से रचा। जैसे जादूगर जादू करता है। उसने शून्य में से जगत् का निर्माण किया, उसकी इच्छा-शक्ति के प्रभाव से संसार प्रकट हुआ। उसने जगत् को जैसा चाहा वैसा ही बनाया।

तीसरा पक्ष उपनिषद्कारों का, शैवों का, और पाश्चात्य पन्थ इस्ट इस्पिनोझा आदि दार्शनिकों का है। वे कहते हैं कि ईश्वर ने जगत् को अपने भीतर से बनाया। ईश्वर स्वयं ही विश्वरूप बन गया। व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार का विश्व वह स्वयं ही है।

चौथा पक्ष रामानुजाचार्य, तथा अन्य विशिष्ट द्वैतवादी वेदान्तियों का है। वे कहते है कि यह दीखने वाला संसार अदृश्य जड़ प्रकृति से बना है। अव्यक्त से व्यक्त हुआ है। अव्यक्त मूल कारण जड़ द्रव्य परमेश्वर का शरीर है। वह परमेश्वर से अलग नहीं हैं। उसके साथ ईश्वर का नित्य सम्बन्ध है। यह जगत् परमेश्वर ही के स्थान में है। ईश्वर ही उस मूल जड़ द्रव्य का नित्य आश्रय हैं। यह सब दीखने वाला और न दीखने वाला संसार ईश्वर का ही शरीर है। उस शरीर का प्राण-जीव या आत्मा जो है वह परमेश्वर ही है। संसार देह है और परमेश्वर देही।

पाचवाँ पक्ष मायावादी श्रीशंकराचार्य का है। वे कहते हैं कि परमेश्वर की सत्ता ही पूर्ण सत्य है, और विश्व एक आभास है। जैसे सीपमें चाँदी का, रस्सी में साँप का, मरुभूमिकी धूप में मृग-जलका जैसे भ्रम होता है, वैसे ही चैतन्य ईश्वर पर विश्वका आभास है। यह संसार एक सपना है—झूठ है।

छठा पक्ष पाश्चात्य आदर्शवादी प्लेटो, हीगल, बर्कले, जे०ज्ञीन्स आदि तत्त्ववेत्ताओं का है। वे कहते हैं—कि यह संसार ईश्वर का विचार है। ईश्वरीय कल्पना का—सुसंगत और व्यवस्थित संग्रह है। इनमें से कुछ का कहना है कि यह संसार परमेश्वर की वासनामय भावना है।

सातवाँपक्ष श्रीगौराङ्ग प्रभु का मिस्टीसोज्म है। वे कहते हैं कि ईश्वर पर ही जगत् की सत्ता निर्भर है। परन्तु जगत् का परमेश्वर से जो सम्बन्ध है, उसका स्वरूप अचिन्त्य और गूढ़ है।

आइए अब हम ज़रा खूब गहराई से इस ईश्वर की खोज जाँच करें। इसमें शक नहीं कि ईश्वर की खोज करना साधारण आदमी का काम नहीं। बड़े-बड़े महापुरुष इसकी खोज में मर मिटे, परन्तु हम बुद्धि की कसौटी पर ज़रा ईश्वर को कसकर तो देखें। जैसे हम सूरज, चाँद, तारे, आकाश, बिजली, वायु, अग्नि आदि का इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं, उस प्रकार ईश्वर का नहीं कर सकते। जिस प्रकार हम भूख-प्यास, दर्द, सुख, दुःख, स्मृति, संकल्प, विकल्प, रागद्वेष आदि मानसिक वृत्तियों का अनुभव करते हैं—उस प्रकार भी ईश्वर का अनुभव नहीं कर सकते। इष्ट-मित्र, भाई-बन्धु से जैसे मिलते मिलाते हैं—उस प्रकार भी परमेश्वर से नहीं मिल सकते। प्राचीन काल से ही मनुष्य इस बात पर विचार करता आया है कि ईश्वर है या नहीं। यदि है तो कैसा है। उसने किस तरह इस विराट् संसार को बनाया है। परन्तु आजतक कोई ठीक २ निर्णय नहीं कर सका। ईश्वर का अनुभव अन्य वस्तुओं के समान नहीं होता। इसलिए उसके सम्बन्ध में लोगों को सदा संदेह रहा। लोगों ने इसके विषय में अनेक कल्पनाएँ की हैं। साधारण लोग कुछ और ही कल्पना करते हैं, तत्त्ववेत्ता कुछ और। बहुत लोग ईश्वर का साक्षात्कार करने की डींग हाँकते हैं-वे अपना ही राग अलापते हैं।

सर्वसाधारण का ईश्वर स्वेच्छाचारी-राजा या बादशाह की भाँति सवर्थी है। वह खुशामदी लोगों पर खुश रहता है। जो को ई उसे भेंट,

पूजा, प्रार्थना, मन्त्र, जप से प्रसन्न रखता है—उसी पर कृपा करता है अनन्य भाव से उसके शरण गए बिना वह कृपा नहीं करता। वह बड़ा भारी अभिमानी है—वह कहता है, "मैं किसी दूसरे की भक्ति नहीं सह सकता—सबको छोड़ मेरी ही भक्ति करो—मेरा ही भजन करो। तभी गति होगी। नहीं तो नर्क में सड़ोगे।" उसकी भक्ति भी टेढ़ी खीर है, पट्ठे ने मनुष्य की इन्द्रियों की बनावट ही ऐसी बनाई है कि वे निरन्तर विषय वासना की ओर दौड़ती रहती हैं। बड़े २ ऋषि मुनि भी वासना की दलदल में फँस कर तपोभ्रष्ट हो चुके हैं। किसी को दुःख में देखकर सज्जन पुरुष दया करके उसकी सहायता को दौड़ पड़ते हैं, पर परमेश्वर ऐसा नहीं हैं उसे लगातार पुकारना पड़ता है, निरन्तर प्रार्थनाएँ करनी पड़ती हैं। फिर भी इस बात का कोई ठिकाना नहीं कि वह प्रसन्न होगा भी या नहीं।

असल बात यह है कि भोले-भाले लोगों ने ईश्वर की कल्पना अपने अशिक्षित मन से की है। धूप, वर्षा, वायु, सूरज, रोग, आँधी, तूफान, अकाल, महामारी, दुःख, दरिद्रता, धन, सम्पत्ति जीवन, मरण, हानि लाभ आदि की अटनाओं का ठीक २ कारण न जान सकने के कारण मनुष्य ने यह कल्पना की कि अवश्य इन सबका कारण कोई ईश्वर है। उसने डरकर, घबराकर, आश्चर्यचकित होकर ईश्वर की कल्पना की।

परन्तु तार्किक—और तत्ववेत्ताओं का ईश्वर तर्क और युक्ति के सिंहासन पर बैठकर अवतरित हुआ। प्रकृति का स्वभाव, रचना वैचित्र्य देख उनके मनमें जो शंकाएँ उत्पन्न हुईं उनका ही समाधान करने लिए उन्होंने ईश्वर की कल्पना की। जहाँ विचारशील जनों की बुद्धि ने जवाब दे दिया वहीं ईश्वर की कल्पना कर ली गई। इस प्रकार अरोप और रहस्यपूर्ण परिस्थिति में ईश्वर अब तक निवास करता आया है।

ईश्वर का साक्षात् दर्शन करने की डींग हाँकने वाले अपनी अन्धी-श्रद्धा के बलपर ही मायामहल खड़ा करते आए हैं। सबसे अधिक महत्त्व

ईश्वर के सम्बन्ध में तत्त्ववेत्ताओं के इन तर्कों को दिया जाता है, जिन्हें संसार के विद्वान् मनन करके ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति करते हैं। इससे हम इस तत्त्वदर्शन पर भी थोड़ा विचार करेंगे। संक्षेप में ईश्वरसिद्धि के लिए संसार के दार्शनिकों ने कुल जमा आठ तर्क स्थापित किए हैं।

पहिला तर्क ब्रह्मसूत्र का है। वह विश्व की रचना और व्यवस्था को महत्त्व देता है। वह कहता है इस दुनिया की रचना अत्यन्तबु द्धिपूर्वक हुई है। वह बुद्धिमान ही ईश्वर है। सारा जगत् एक ठीक व्यवस्था से चल रहा है। ठीक समय पर सूरज निकलता, छिपता और दिन-रात-होते, ऋतु बदलती, वर्षा होती है। सूर्य-तारे नक्षत्र-ग्रहों की ठीक नपीतुली गति है। अणुपरमाणु से सौर परिवार तक, तिनके से लेकर पहाड़ तक सबका विकास एक नियम के भीतर है। सारी दुनिया एक ज़बर्दस्त मशीन की भाँति चल रही है। इस प्रकार की मशीन ठीक २ नहीं चल सकती जब तक उसका कोई बुद्धिमान् संचालक न हो, इससे मानना पड़ता है कि जगत् को किसी असाधारण बुद्धिमान् ने बड़े सोच विचार के साथ बनाया है।

अब इस सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

पहला तर्क तो यह है कि ज्ञान और बुद्धि की आवश्यकता एकादेशीय होती है। मनुष्य के काम काज में अवश्य ज्ञान और बुद्धि की आवश्यकता रहती है परन्तु संसार के सब काम बुद्धि की सहायता से हो रहे हैं, यह नहीं कहा जा सकता। शरीर में जीवन की सब क्रियाएँ—भोजन का पचना, नाड़ियों में रुधिर-प्रवाह, हृदय की धड़कन गर्भ का पोषण, ये सारी क्रियाएँ बिना ही बुद्धि के प्राणी के शरीर में होती है। अनगिनत वनस्पतियाँ उगती हैं। विविध रंग-विरंगे फूल खिलते हैं—परन्तु इनके लिये न कोई ज्ञान तन्तु वहाँ है न मस्तिष्क। इस लिए—न वहाँ बुद्धि है न विचार।

विचार में कोई ग़लती होने पर अव्यवस्था होकर काम ख़राब हो जाता है। परन्तु विचार में कोई ग़लती न हो तो काम ठीक २ होता है। अब देखिए आपने दाल पकाई, आपका ध्यान उचट गया दाल जल गई। यह एक बिगाड़ हो गया—पर विज्ञान की दृष्टि में यह बिगाड़ नहीं है। आप जो चाहते थे—वह न हुआ—इसी से आप कहते हैं दाल गड़बड़ हो गई—परन्तु दाल के जलने में कार्य-कारण-भाव का अबाधित नियम ही है। उतनी तेज आँच पर इतनी देर दाल रहेगी तो जल जायगी यह नियम ही है। इस प्रकार प्रकृति में अव्यवस्था भी एक प्रकार की व्यवस्था ही है। नियमबद्धता प्रकृति का स्वभाव है, वह ऊपर लादा हुआ धर्म नहीं। इसलिए संसार की व्यवस्था में बुद्धि का कोई स्थान नहीं है।

दूसरा तर्क यह है कि प्रेरणा के लिए प्रेरक की आवश्यकता है। संसार में प्रगति है, उस प्रगति को सबसे प्रथम जिसने प्रेरणा दी—वह प्रेरक ही ईश्वर हैं। जैसे कोचवान गाड़ी को चलाता है वैसे ही ईश्वर संसार को चलाता है।

इस युक्ति के खण्डन में पहली बात तो यह है—जब संसार अनादि है तब 'सब से प्रथम' प्रेरणा देने का सवाल ही नहीं उठ सकता। दूसरे, प्रत्येक वस्तु में स्वयं गति की शक्ति है, एक वस्तु दूसरी वस्तु की गति का कारण बनती हैं। जैसे घड़ी के पुर्जे। रेलगाड़ी के डब्बे एक के पीछे एक सरकते जाते हैं—एक पर दूसरा दूसरे पर तीसरा। इसी प्रकार जगत् की गति है जो अनादि से चली आ रही है।

तीसरा तर्क है कि उद्देश्य के बिना जगत में कोई काम नहीं होता। यह उद्देश्य जिसके मनमें है वही ईश्वर है। इसके उत्तर में पहिली बात तो यह है कि उद्देश्य अन्तःकरण का धर्म है। उद्देश्य का अर्थ है इच्छा। इच्छा उस वस्तु की होती है जो अपने पास न हो। तथा इच्छा

तभी पूरी हो सकती है जब वह वस्तु मिल जाय जिसकी इच्छा है। अब, यदि ईश्वर के मन में किसी वस्तु की इच्छा है तो इसका मतलब है कि जिस वस्तु की इच्छा है वह उसके पास नहीं है। यदि ऐसा है तो उसमें संकल्प और उद्देश्य भी नहीं हो सकता।

व्यवस्था का अर्थ है अभीष्ट स्थिति। अभीष्टता मनुष्य की आवश्यकता पर निर्भर है। यह नहीं कहा जा सकता कि जगत् की रचना प्राणियों के लिए अभीष्ट है। भूगर्भशास्त्रवेत्ता और प्राणीशास्त्र के आचार्य जानते हैं कि अनन्त जीवों को जगत्-संग्राम में नष्ट होना पड़ता है। उनपर बड़ी २ विध्वंसक आपत्तियाँ आती हैं। संसार में अनगिनत प्राणी उत्पन्न होते हैं उनमें अधिक नष्ट होते हैं थोड़े जीवित रहते हैं। जीव-जातियों का संहार जीवित रहने के अनुपात से कई गुना अधिक है। तब व्यवस्था तथा संगति का क्या अर्थ है? प्राचीन तत्त्व-वेत्ता इसीसे संसार को दुःख का सागर कहते हैं। दुःख बहुत और सुख कम है। मनुष्य स्वभावतः अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर जा रहा है। बहुत बार भटकता है, उसका मार्ग बड़ा घूमघुमौवल है। इससे प्रमाणित होता है कि जगत् की व्यवस्था भौतिक एवं नैसर्गिक है, उसका उद्देश्य तथा संकल्प से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्राणियों तथा वनस्पतियों, के शरीर का विकास भौतिक नियमों का परिणाम है, उसके लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है।

चौथा तर्क है कि प्रत्येक ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व ज्ञाताके आधीन है। ज्ञाता है तभी ज्ञेय है। जब हम अनुभव नहीं करते तब जो अनुभव करता है वही ईश्वर है। उसी के अनुभव पर विश्व निर्भर है।

इसके जवाब में पहले तो यही कहा जायगा कि कोई वस्तु उस वस्तु के ज्ञान पर निर्भर नहीं है। ज्ञान ही वस्तु पर निर्भर है। आपने लंदन चाहे देखा न हो पर वह है अवश्य। यदि कोई वस्तु ऐसी बताई जाय जो केवल उसी अवस्था में रहती है जब उसकी जानकारी हो। जब

जानकारी न हो तब वह नहीं रहती। तो वह वस्तु सत्य नहीं—काल्पनिक है। प्रमाण पर वस्तु का अस्तित्व निर्भर नहीं है। वस्तु पहिले रहती है और और अनुभव पीछे। विश्व का अनुभव लेने वाला कोई न हो तो भी उसका अस्तित्व रहेगा। संक्षेप से ज्ञान का वस्तु कारण है, वस्तु का ज्ञान कारण नहीं।

पाँचवा तर्क है कि कलात्मक बुद्धि का विषय सारा संसार है। सारा संसार कलात्मक है। इसलिए यह अलौकिक कलामय विश्व जिसकी प्रतिमा से उत्पन्न हुआ है, वही ईश्वर है।

इस सम्बन्ध में प्रथम तो यही कहना कठिन है कि यह विश्व केवल सौन्दर्यमय ही है। और उसकी रचना किसी विचारवान् ने की है। वह भी कहना ठीक नहीं कि संसार में सब कुछ सुन्दर ही सुन्दर है। यह सुरूप भी है और कुरूप भी है। मनुष्य दोनों ही का अनुभव करता है। वह सुख भी पाता है दुःख भी। वास्तव में मनुष्य के सुख-दुःख का अनुभव परिस्थिति पर निर्भर है। परिस्थिति पर मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ही विजय प्राप्त करता है। इसलिए जीवन में सौन्दर्य का अनुभव परिस्थिति के अनुसार होता है। मनुष्य की भावना और परिस्थिति के आधार पर सौन्दर्य और कुरूपता का निर्णय किया जा सकता है। सौन्दर्य न तो केवल वस्तुनिष्ठ है न आत्मनिष्ठ। वह अंशतः विश्व का स्वभाव है। जो शाश्वत है। उसका किसी ने निर्माण नहीं किया है।

छठा तर्क यह है कि सब मनुष्यों को कर्मफल देने वाला, द्रष्टा कर्ता ईश्वर है। वह यदि न हो तो सब शुभाशुभ कर्म और कर्मफल निराधार प्रमाणित हो जायें। जगत् में नियन्त्रण ही न रहेगा।

यह नीति मूलक ईश्वर का अनुमान है। इसमें दो बातों के लिए ईश्वर को माना गया है, एक नीति के नियम निर्धारित करने के लिए और दूसरे नीति का फल देने के लिए। परन्तु नीति के नियमों को तो मनुष्य ही ने बनाया है। समाज का व्यवहार ठीक २ चले इसीलिए

नीति और सदाचार के नियम बनाए गए हैं। मनुष्य ने यह समझा है कि यदि नीति के नियमों का पालन नहीं होगा तो मनुष्यों का व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन सर्वदा असफल, और अनिष्टकर हो जायगा। सदाचार और दुराचार में विवेक करना भी मनुष्य के लिए आवश्यक है। नीति का स्वरूप और नियम सब जगह एक से नहीं होते। सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार नीति का रूप भी बदलता रहता है। सारे मनुष्यों की सब काल नीति-मर्यादा एक सी कभी नहीं रही। इस लिए नीति ईश्वर-संचालित नहीं है।

नीति का फल आज नहीं तो कभी न कभी तो मनुष्य को मिलेगा। ऐसी श्रद्धा सारी मानव-जाति में एक समान नहीं पाई जाती। अनेक जातियाँ न तो दूसरा जन्म ही मानती न परलोक और स्वर्ग को ही स्वीकार करती हैं। हिन्दू कर्म-फल पर विश्वास रखते हैं। ईसाई और मुसलमान उसके लिए अपने को ज़िम्मेदार नहीं समझते। इधर गत दो शताब्दियों के मानव-विकास का इतिहास हम देखें, तो हम साफ देखेंगे कि उनमें यह भावना थी ही नहीं कि हमें अपने किए कर्मों का कभी न कभी फल मिलेगा। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र और समाजवाद आदि के ध्येय सर्वथा भौतिक थे उनका देवता 'देश' भी सर्वथा भौतिक था। इन ध्येयों की पूर्ति के लिए जो लाखों मनुष्यों ने बड़ी २ विपत्तियाँ सहन कीं, इनका न तो पारलौकिक श्रद्धा से कोई सम्बन्ध है, न नैतिक श्रद्धा से। इन सारे मनुष्यों का यही विश्वास है कि उनके कर्म का फल देने वाला ईश्वर होना चाहिए।

यह एक हद तक सच है कि ईश्वर, आत्मा के अमरत्व, और कर्म फल सिद्धान्ततः मानव-बुद्धि से परे की मान्यताओं की कल्पनाएँ हैं, और इनसे मनुष्य को अपने कर्म और जीवन की सामर्थकता अनुभव होती है। परन्तु इस कल्पना में अनेक दोष हैं, एकतो यह कि इतिहास में भारी से भारी अलौकिक कल्पनाओं की अपेक्षा बड़ी २ घटनाएँ ऐसी

घटी हैं जिनका केवल ऐहिक मूल्य है। कला, विद्या, पराक्रम, आदि मानवीय गुणों को इन ऐहिक कल्पनाओं ने ही पहुँचाया है। फ्रेंच-राज्य-क्रान्ति क्या अमेरिका का स्वातन्त्र्य-युद्ध क्या, सत्ताबन का भारतीय विद्रोह क्या, रूस की रक्त-क्रान्ति क्या-सभी के मूल में मनुष्य के मूल-भूत अधिकारों की स्थापना का ध्येय ही रहा। लाखों मनुष्यों को युद्धभूमि में या फांसी के तख्तों पर झूल २ कर जो प्राण त्यागे, उनमें ईश्वरत्व और पारलौकिक इच्छाओं की गन्ध तक न थी। आज के वैज्ञानिक ज्ञान-पिपासा से प्रेरित होकर समाज की भलाई के लिए अपनी जान को खतरे में डालकर बड़े २ अन्वेषण कर रहे हैं। माँ बच्चा के लिए, पत्नी पति के लिए, जो कष्ट सहते हैं वह स्वर्ग के लालच से नहीं। वहाँ तो प्राणों का प्राणों में मिल जाने की बात है। कितने ही लोग परिवार के लिए अथक परिश्रम करते हैं परलोक के लिए किसी काम को करना एक प्रकार स्वार्थ-चिन्तन ही है। जो एक विकृत स्वार्थ है क्योंकि उसमें केवल कल्पना ही कल्पना है। परन्तु समाज की उन्नति का जो भौतिक वाद है उसमें सब लोगों के कल्याण की भावना है। पारलौकिक भावनाएँ सदैव प्रगति की बाधक रही हैं।

सातवां तर्क है कि मनुष्य का धार्मिक अनुभव ही ईश्वर की सत्ता का प्रमाण है। परन्तु, धार्मिक अनुभव के नाम से जिस भावना का संकेत किया जाता है वहाँ कुछ भी प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। प्रत्यक्ष अनुभव ही मनुष्य की बुद्धि का खरा आधार है। धार्मिक भावना का आधार तो केवल श्रद्धा है। यह श्रद्धा तो जन्म से ही अंधी है। उसमें कल्पना और भावुकता ही है, और कुछ नहीं। बुद्धिवाद के निकट श्रद्धा नहीं ठहर सकती।

आठवाँ तर्क है कि ऋषियों और महात्माओं के दिव्य अनुभव ही ईश्वरीय सत्ता के प्रमाण हैं। जैसे हम माता के कहने पर विश्वास कर लेते हैं कि हम अमुक माता के पुत्र हैं, उसी प्रकार ऋषियों और साधुओं

की बात पर विश्वास करके हम कहते हैं कि ईश्वर है। परन्तु सब महात्माओं के ईश्वर सम्बन्धी अनुभव एक से नहीं। परस्पर विरोधी है। कुछ कहते हैं ईश्वर ही विश्वरूप है, कुछ कहते हैं ईश्वर अलग है विश्व अलग हैं; कुछ कहते हैं, विश्व मिथ्या है ईश्वर सत्य है; कुछ कहते हैं ईश्वर सगुण है; कुछ कहते हैं वह निर्गुण हैं; बुद्ध-महावीर-कपिल कहते हैं ईश्वर है ही नहीं, तो इन महात्माओं की बातों पर विश्वास करनेवालों के जो गुट बन गए हैं, वे ही सम्प्रदाय हैं। यदि तर्क पर इन महात्माओं की बात को परखा जाय तो इनमें से एक ही सत्य होनी चाहिए शेष झूँठी। परन्तु तर्क से तो ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है। वह तो भावना ही की वस्तु है।

विज्ञान ने भी ईश्वर के सम्बन्ध में विचार किए हैं। परन्तु विज्ञान ने असंदिग्ध होकर नहीं कहा कि ईश्वर है। विज्ञान की परीक्षा की तीन श्रेणियाँ हैं।

१—खूब जाँच करके अनुभव और परीक्षण द्वारा गणित के आश्रय से सिद्ध वस्तु की कल्पना। इसमें पदार्थ विज्ञान के ६२ द्रव्य और रासायनिक मिश्रणों का समावेश है। ऐसी कोई प्रयोगशाला ईश्वर के गुण धर्म का नाप तोल भी नहीं स्थापित हुई है।

२—परीक्षणों से अभी जो सिद्ध नहीं हुए हैं ऐसे अनुमान। जैसे जीव-शास्त्र के विकासवाद, पदार्थ-विज्ञान की आकर्षण शक्ति, ज्योतिष के तेजोमेघ। इन कल्पनाओं की रचना प्रथम श्रेणी परीक्षा की सहायता से हुई है। यदि इनमें किसी के भरपूर प्रमाण मिल जाते हैं तो वे प्रथम परीक्षा—श्रेणी में सम्मिलित कर लिए जाते हैं। मिथ्या सिद्ध होने पर उन्हें त्याग दिया जाता है। 'दर्शक' और 'नेपच्यून' नामक तारे पहिले केवल अनुमान से ही जाने गए थे, बाद में उनकी जानकारी स्पष्ट हो गई और वे प्रथम श्रेणी में ले लिए गए। इसी प्रकार पदार्थ

की ईश्वर कल्पना आईंस्टीन की आकाश कल्पना के कारण आवश्यक सिद्ध हो गई है।

३—संभाव्य कल्पनाएँ। जैसे मानसशास्त्र के दो मनों की कल्पना। जाग्रत एवं स्पष्ट—गूढ़ एवं सुप्त। ऐसे दो मन मनुष्य में हैं, ऐसा मानसशास्त्री कहते हैं। पर बहुतों को यह अमान्य है। ऐसी अनेक कल्पनाएँ हैं, जिन्हें कुछ विद्वान सुझाते हैं, कुछ उन्हें अस्वीकार करते हैं। पिछली पीढ़ी के कुछ जीव शास्त्री जीव-शक्ति पर विश्वास करने लगे थे, पर अब नई पीढ़ी के विद्वान् उसपर भरोसा नहीं रखते।

इन तीनों ही परीक्षा-श्रेणियों में ईश्वर की कल्पना का कोई स्थान नहीं आता। एडिङ्गटन, जेन्सजीन्स, ह्वाइटहेड आदि विज्ञानाचार्यों ने ईश्वर पर खोज की अवश्य है, पर उनकी कल्पनाएँ तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरीं। आईन्स्टीन इनके विचारों को केवल साहित्यिक खेल कहता है। वास्तव में ईश्वर-सिद्धि के लिए विज्ञान को कार्य-कारण-सम्बन्धी नियम बिल्कुल भी सहायक नहीं हैं।

विज्ञान ईश्वर की कल्पना पर जो आक्षेप करता है वह यह है कि ज्ञान-इच्छा-और भावना से सम्पन्न आत्मा ही 'ईश्वर' है। परन्तु अभी यह सिद्ध नहीं हो सका कि आत्मा शरीर से भिन्न है। 'फिर' सांख्य ने स्वतन्त्र जीवात्मा को तो माना है पर परमात्मा को नहीं। अब यदि यह निर्णय हो जाय कि शरीर में ज्ञानवान् आत्मा की कल्पना झूठी है तो परमात्मा की कल्पना अपने आप झूठी सिद्ध हो जाती है। परन्तु शरीर में आत्मा है इसका एक भी तर्कपूर्ण प्रमाण नहीं है।

असल बात यह है कि ईश्वर एक कल्पना है बहुत पुरानी, केवल श्रद्धा पर आधारित। कोरा अनुमान। मनुष्य की बुद्धि जीवन का रहस्य नहीं सुलझा सकती। हम अपने जन्म से पहले नहीं जा सकते। मृत्यु के आगे भी हम कुछ नहीं देख सकते। हम इतना ही ठीक २ जानते हैं कि हमारा मनुष्य-समाज है। जिसमें असंख्य नरनारी बालक वृद्ध भरे

हैं। वे सब सुखी रहें, सम्पन्न रहें। हमारे देवता वे लोग हैं जिन्होंने मनुष्यों को सुखी करने–समृद्ध करने में अपने को खपा दिया। जिन्होंने जंगल काटे, पृथ्वी को जोता, बोया। समुद्र की छाती पर जहाज चलाकर नई दुनिया की खोज की। नदियों पर लोहे के पुल बिछाए। तार–रेडियो, तथा बिजली की शक्ति का हमारे लिए प्रकाश दिया। कपड़े, छापे की मशीन, और बड़े २ यन्त्र बनाए। नागरिकता का विकास किया। काव्य–और विचारों को ग्रन्थों में रचा, कला और विज्ञान को पल्लवित किया, उद्योग–धंधों को विकसित किया, विज्ञान का 'चमत्कार' हमारे हाथ में दिया।

ईश्वर के लोभ में पड़कर कर भटकने से हमें कोई लाभ नहीं। प्रकृति की सीमा को हम लांघ नहीं सकते। हमें अपने सभी कर्तव्य यहीं—मनुष्यों के बीच पालन करने हैं। हमें प्रेम करना और परिश्रम करना सीखना चाहिए। इससे हम साहसी और सुखी होंगे। यदि हम अपने हृदय में भलाई और मस्तिष्क में सचाई भ लें, तो हम सारी मानव–सन्तति को सुख-शान्ति और समृद्धि की ओर लेजा सकते हैं। जो दुनियाँ का सबसे बड़ा पुण्य कर्म है।

७

'देवता' ईश्वर के भाई भतीजे

ये देवता ईश्वर के भाई भतीजे ही नहीं—चचा, ताऊ और नाना, मामा भी हैं, जब ईश्वर ने जन्म नहीं लिया था तब इन्हीं देवताओं का खूब दौर-दौरा रहता था। बाबिलों नियनों का 'तिअमात' और अथर्ववेद का 'तैमात' बाबिलोनिया का 'अप्सु' और ऋग्वेद का 'अप्सुजित' सुमेरियनों का 'य' और ऋग्वेद का 'यह्व' बाबिलोनिया का 'अंशन' और ऋग्वेद का 'अंश' बाबिलोनिया का 'एतम' और ऋग्वेद का 'एतश' बाबिलोनियनों का 'इश्तर' 'तमवूज़' और ऋग्वेद का 'दमून' सुमेरियनों का 'मेख' और 'अल्लतु' तथा ऋग्वेद का 'मेध' और 'अराति' ये प्राचीनतम जातियों के प्राचीनतम देवता हैं। जो ईश्वर के चचा ताऊ प्रतीत होते हैं। क्योंकि यह प्राचीन इतिहास से हमें पता लगता है कि उस समय तक परमेश्वर को ये लोग नहीं जानते थे, इन्हीं देवताओं की पूजा करते थे। पीछे आर्यों के देवता इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, पूषन्, सूर्य, चन्द्र, मघवान् आदि वैदिक देवताओं का चिरकाल तक दौर-दौरा रहा। और इनका परिवार इतना बढ़ा कि वैदिक तैंतीस देवता पुराणों के तैंतीस करोड़ हो गए। जिनके सरदार ब्रह्मा, विष्णु और महेश थे त्रिदेव रहे। संसार की अन्य जातियों ने भी अपने-अपने देवताओं को घड़ा। ये सब देवता अपने अपने जन्मदाताओं के अनुरूप ही रहे। जिससे उस जाति के लोग घृणा करते उससे उनका देवता भी घृणा करता था।

ये सभी देवता स्तुति प्रार्थना और पूजा के बड़े शौकीन रहे। बहुत

देवयज्ञों से खुश रहते थे। ग़रीब जानवरों के खून का स्वाद उनकी जीभपर चढ़ गया था। उनका बलिदान उन्हें प्रसन्न करने का सबसे बढ़िया नुसखा था। हज़ारों भेड़ बकरियों और गाय बैलों की संसार की जातियों ने इन देवताओं को बलि दे-देकर प्रसन्न करने की चेष्टा की है। पुरोहित, ब्राह्मण, पादरी, इनके एजेन्ट हैं। उनका काम अपने-अपने देवताओं के गीत गाना और उन्हें लोगों पर प्रसन्न करने के बदले खूब मालमलीदे उड़ाना रहा। इन देवताओं के रूपरंग भी निराले रहे। किसी की तीन आँख, किसी के ४–६ सिर, किसी के ८–४ हाथ, किसीका सिर ही नहीं, किसीका धड़ ही नहीं, किसी के मुँह में हाथी का सूँड़, किसी के सात सिर, किसी के सिर पर सींग। कोई साँपों की माला पहनता है, भंग-धतूरा खाता है, कोई बैल पर चढ़ता है। कोई चूहे पर, कोई हंस पर तो कोई मोर पर, गरुड़पर, कोई एकदम नंगा, कोई खाल लपेटे, कुछ बीबी बच्चों वाले, कुछ एकदम फक्कड़।

इनमें प्रायः सभी देवता, ईर्षालु, तिकड़मबाज, कमअक्ल, कामी, कुटिल और बदला लेने वाले रहे। जो कोई उनपर श्रद्धा न करे उसका ये सर्वनाश ही कर डालते थे। ये देवता आसानी से बनाए जा सकते थे, इससे इनके बनाने में बहुत कम खर्च भी होता था। पर कुछ देवताओं के मन्दिर बड़े ठाठबाट के–लाखों करोणों की संपति के थे। साधारण–तया इन देवताओं का बाज़ार ठसाठस भरा रहता था। इनकी भेंट पूजा में ज़रा भी ग़फलत हुई कि इन्होंने अकाल और महामारी अपने भक्तों पर भेजी। परन्तु इनका क्रोध और प्रसाद अपने भक्तों ही तक था। जो लोग इन्हें नहीं मानते थे उनसे ये कुछ नहीं कहते थे।

आप इन देवताओं को एकाध मुर्गा, सूअर बकरा चढ़ाकर हाथ-पैर जोड़कर प्रसन्न कर लीजिए। चोरी, डकैती, ठगी, कुछ भी कीजिए ये देवता प्रसन्न होकर आप के सब अपराध माफ़ कर देंगे। मुक़दमा जितादेंगे, पुत्र उत्पन्न कर देंगे, कहीं से खज़ाना दिला देंगे, आपके दुश्मन

को मार डालेंगे, जो कहिए वही कर देंगे। बस आप उन्हें धूप दीप से खुश कीजिए, और अच्छा बुरा जो चाहे वही करा लीजिए।

यों तो जनवरों, कीड़ों और पशु-पक्षियों की भी शकल के देवता हैं, नदी नाले ताल तालाब वृक्ष, पहाड़ भी देवता हैं, पर बढ़िया देवता नर ही हैं। उससे ज़रा घटिया स्त्री। इन देवताओं से लड़ने के लिए इनके प्रतिद्वन्दी भूत-प्रेत, जिन, पिशाच, दैत्य और राक्षस भी हैं। बहुत दिन तक लोग यह मानते रहे कि रोग और विपत्तियाँ इन्हीं के द्वारा आतीं हैं। हज़ारों वर्ष तक इन भूत प्रेतों को डराकर भगादेना ही एक मात्र चिकित्सा रही। बेमेल शब्दों को जोर-जोर से बेतुकेपन से चिल्लाना ही उनके मन्त्र थे। सींगों से नाद करना, ढोल पीटना, झाँझ बजाना, भयानक उछल-कूद और चेष्टाएँ करना और विविध अखाद्य अपृश्य वस्तु इन प्रेतों की भेंट करना इनका धन्धा रहा। इन भूत-प्रेतों को देवताओं की ममद से दबाया जाता था। जो कोई ओझा स्याना इन भूत-प्रेतों को दबा सकता था, देवताओं को प्रसन्न कर सकता था उसे दैवी-शक्ति-सम्पन्न माना जाता था। कोई भी विद्वान् उस प्रतिष्ठा को नहीं प्राप्तकर सकता था, जो इन चमत्कार दिखाने वालों को प्राप्त था। 'चमत्कार' ही महात्मा होने की कसौटी थी।

अब आप ज़रा इस बात पर विचार कीजिए कि यह अत्यन्त झूँठा और गन्दा अन्धविश्वास मनुष्य में कैसे प्रचलित आ। इन अच्छी और बुरी 'दैवीशक्तियों' का विश्वास मनुष्य के मन में परिस्थिति के आधार पर हुआ। मनुष्य ने अपनी अच्छी परिस्थिति का कारण अच्छी दैवीशक्ति को माना जिसके अधिष्ठता देव थे और बुरी परिस्थिति का कारण बुरी दैवी शक्ति को, जिसके अधिष्ठाता भूत प्रेत थे। यों अच्छी परिस्थिति से 'देवता' की और बुरी परिस्थित से, 'भूत-प्रेतों' की कल्पना कर ली गई। इन अच्छी और बुरी दैवी शक्तियों को सदा प्रसन्न रखने के लिए 'प्रार्थना' ही मुख्य काम था। इस झूँठे विश्वास ने—कि मनुष्य चारों

ओर से अच्छी और बुरी दैवीशक्तियों से घिरा हुआ है मनुष्य ने अज्ञान की अन्धेरी रात्रिमें हज़ारों वर्ष तक जो कष्ट उठाया है, उसे याद करके ही सहृदय पुरुष पागल हो जायगा। मनुष्यों ने इन झूँठे देवताओं और भूत प्रेतों के आगे अपने काँपते हुए घुटने टेक दिए अपना खून चढ़ाया प्रार्थना करते-करते और भेंट-बलि देते-देते वह तबाह हो गया पर ये बहरे और निर्दयी देवता कभी नहीं पसीजे। कभी उन्होंने उसके दुःख दर्द में मदद नहीं की।

ज्ञानकी वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य इन पत्थर और लकड़ी के खिलौने को फैंकता गया और छोटी-छोटी दैवी शक्तियों से हटकर उसका विश्वास एक उन्नत्त और सर्वशक्तिमान ईश्वर पर जम बैठा। दैवी शक्ति के सहारे की उसे आदत पड़ गई थी, जैसे लोग समझते थे, कि बिना राजा के संसार की व्यवस्था न हो सकेगी उसी प्रकार यह भी सोचते थे कि बिना ईश्वर के हमारा धर्मराज्य टिकही न सकेगा। परन्तु जैसे उसने आज राजाओं के सिर कुल्हाड़े से काट और उनके राजमुकटों को ठोकर लगा कर जनतन्त्र की स्वतन्त्र भावना जाग्रत की उसी प्रकार जब उसने देखा कि इस इस' 'अनन्त' की खोज में 'अन्त' में असफलता ही पल्ले पड़ती है तब वह अपने चारों ओर के फैले हुए संसार की परीक्षा बुद्धि और सत्य की कसौटी पर कसने लगा। उसे विज्ञान ने सहारा दिया मार्ग दिखाया और वह आत्म निर्भर हुआ। किन्तु अभी मानवीय ज्ञान का बाल्य काल ही है। वह सोच रहा है खोज रहा है, धीरे-धीरे, बड़ी कठिनाइयों से उसने इन देवताओं और भूत-प्रेतों को सभ्य संसार से खदेड़ कर भगा दिया है, और सर्वोपरि सर्वशक्तिमान ईश्वर को इस्तीफा देने का नोटिस दे दिया है, जिससे वह इज्जत के साथ चला जाय, धक्के मारकर निकालना न पड़े।

विज्ञान ने मनुष्य को बता दिया है कि यदि पृथ्वी दूसरे विश्वों से आकर्षित न हो तो वह सूर्य के साथ जा टकराएगी। वे दूसरे विश्व

वे दूसरे विश्व उनसे भी आगे के दूसरे विश्वों द्वारा आकर्षित होंगे। इस आधार पर वैज्ञानिकों ने समझ लिया कि सृष्टि का क्रम अनन्त से है और रहेगा। विज्ञान ने सब से महत्त्वपूर्ण बात मनुष्य को यह बताई है कि 'गति' सदा से ही है, सदा रहेगी। उसका नाश नहीं हो सकता। 'गति' का प्रकृति से पृथक् अस्तित्व नहीं है। 'विचार' इसी गति का एक रूप है। मनुष्य एक ऐसा केन्द्र है जो 'गति' के अनेक रूपों को विचार-शक्ति में बदल देता है। उसने यह भली भाँति समझ लिया है कि विश्व से परे कहीं कुछ नहीं है, और विश्व के भीतर प्रकृति से बढ़कर न कुछ है, न हो सकता है। यह, वह महान् सत्य है कि जिसे ठीक-ठीक समझ जाने पर फिर ईश्वर की आवश्यकता रह नहीं जाती। इसी से अब मनुष्य ईश्वर से विमुख हो उसकी प्रार्थना से किसी इच्छा की पूर्ति की आशा छोड़, प्रकृति पर एक के बाद दूसरी विजय प्राप्त करता चला जा रहा है, और वह यद्यपि अभी विद्यार्थी ही है—पर उसने ऐसी महत्ता प्राप्त कर ली है, जिसे झूठे देवताओं, भूत-प्रेतों और सर्व शक्तिमान् परमेश्वर के उपासकों ने कभी नहीं प्राप्त किया था।

८

'श्रद्धा'—अन्धी बुढ़िया

'श्रद्धा' बहुत पुरानी अन्धी बुढ़िया है। अन्धविश्वास इसका अन्धा बेटा है। इन दोनों ने करोड़ों मनुष्यों को पूरा बेवकूफ बनाया है। इस अन्ध विश्वास के चक्कर में फँस कर लोगों ने बड़े-बड़े भयानक काम किए हैं। अन्ध विश्वास का दास कभी सत्य के तत्त्व को खोज नहीं सकता। और 'धर्म' के तो हाथ पैर ही अन्ध विश्वास हैं। इसी से धर्म के काम में 'अकल को दख़ल' नहीं। इसी से धर्म, नीति के मार्ग से फिसल कर रीति पर आ गिरा, और वह रूढ़िका दास बन गया। कुसंस्कार अन्ध विश्वास का छोटा भाई है। महामना मालवीय जैसे प्रकाण्ड राजनीति के पण्डित, दिग्गज समाज-शास्त्री और मेधावी पुरुष भी पत्थर की मूर्ति को ईश्वर मानने से इन्कार करने का साहस न कर सके। अन्सारी—अजमल खाँ, खान अब्दुल ग़फ्फार खाँ और आज़ाद जैसे राष्ट्र-वादी उदार चेता मुसलमान विचारक भी यह घोषणा न कर सके कि फ़रिश्तों की गप्पें मानने योग्य नहीं। बहिश्त और दोज़ख़ पर उनका पूरा विश्वास रहा है, और यह भी विश्वास नहीं हटा कि उनकी आत्मा प्रलय तक अपने कर्मों का फल भोगने के लिए चुपचाप कब्र में पड़ी रहेगी। ईसाइयों ने एक से बढ़कर एक वैज्ञानिक पैदा किए—परन्तु उनके अन्धविश्वास वैसे ही बने रहे। एक ईसाई लड़के से जब पूछा गया कि पृथ्वी कैसी है? तो उसने जवाब दिया कि 'स्कूल में गोल और गिरजे में चपटी।'

इस अन्धविश्वास का इतिहास भी जानने योग्य है। योरोप की प्राचीन दन्त कथाओं ने योरोप भर में ये अन्धविश्वास भर दिए थे

कि भूमध्य सागर के द्वीप और उनके निकटवर्ती देश जादूगरों, भूतों, राक्षसों, पङ्खदार परियों, भयंकर रूप धारियों, पङ्खदार नरसिंहों और क्रूर कर्मी दैत्यों से भरे हुए हैं। नीले आकाश में स्वर्ग है, जहाँ परमेश्वर रहता है। जहाँ जीउस देवता देवताओं से घिरा हुआ मनुष्यों की ही भाँति दबीर किया करता है। यूनान में जब नवीन जागृति हुई, और उनमें नवीन उपनिवेश बसाने और भौगोलिक अन्वेषण के भाव उत्पन्न हुए तो उन्होंने भूमध्य सागर के खूब चक्कर काटे, तब उन्हें मालूम हुआ कि उनके प्राचीन प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'आडीसी' में जो अद्भुत आश्चर्यजनक कहानियाँ लिखी हैं वे कोरी कल्पनाएँ हैं। वे यह भी समझ गए कि आकाश में कोई देवता नहीं रहता। इस प्रकार ज्ञब 'होमर' और 'हीसियड' के सब यूनानी और 'डोरिक' देवता गायब हो गए; और लोगोंने उनका विरोध किया, तो उन्हें कठोर दण्ड दिया गया। बहुतों को देश निकाला और प्राण दण्ड मिला। परन्तु यूनानी तत्त्ववेत्ता और कवियों ने अन्ध विश्वास के विरुद्ध जहाद बोल दिया।

प्राचीन काल से यूनानी लोग गृह-युद्धों में लगे रहे। परन्तु जब उन्होंने अन्धविश्वास का पल्ला छोड़ स्वतन्त्र चित्त से सोचना शुरू किया और फ़ारस की आधीनता में रहने से इन्कार कर दिया तो खलबली मच गई। उस समय फ़ारस का राज्य समस्त योरोप में विस्तार से फैला था, वह भूमध्य सागर—इजियम सागर, कृष्ण सागर, कैस्पियन सागर, इंडियन सागर, फ़ारस सागर और लाल-सागर के तटों तक फैला था। उस महाराज्य में संसार के ६ महानद बहते थे, जिनमें से प्रत्येक की लम्बाई एक हज़ार मील से कम न थी। उसके राज्य की भूमि की सतह समुद्र की सतह से १३०० फीट नीचे से लेकर २० हजार फीट तक ऊँची थी, इससे वह महाराज्य धन-धान्य से भरा हुआ था—कृषि और व्यापार का केन्द्र था, उसका खनिज द्रव्य भी अतोल था। वहाँ के बादशाह की नीडियन राज्य, असीरियन राज्य और कैल्डियन राज्य वगैरत में

मिले थे, जिनके इतिहास दो हज़ार वर्ष पुराने थे। ऐसे ही समय में सिकन्दर का जन्म हुआ, वह एक छोटे से ज़मींदार का बेटा था। पहिले ही धावे में उसने थीब्स को जीत कर वहाँ के ६ हज़ार निवासियों को मरवा डाला और ३० हज़ार को गुलाम बना कर बेच डाला। इससे उसकी धाक बैठ गई। फिर वह एशिया की ओर बढ़ा। उसके साथ केवल ३४ हज़ार पैदल, ४ हज़ार सवार, और ७० तोपें थीं। फ़ारस का शाह दारा ६ लाख सेना लेकर उसके सामने आया, पर वह बीच खेत हारा। उसके एक लाख सिपाही खेत रहे। एशिया माइनर पर सिकन्दर का कब्ज़ा हो गया। और वहाँ का अटूट ख़ज़ाना उसके हाथ आया। अब वह भूमध्य सागर की राह बीच के राज्यों को फ़तह करता और समुद्रतटों पर अपना क़ब्ज़ा करता हुआ आगे बढ़ा, और मिश्र को जय किया। अन्ध विश्वास का वह भी दास था। वह अपने को घोषणा-पत्रों में 'सिकन्दर-वल्द जूपीटर एमन' कहता था। मिस्र से वह उस अपने पिता-देवता के दर्शन करने २०० मील चलकर लीबिया के रेगिस्तान तक गया था। सिकन्दर की माँ हँसकर कहा करती थी कि 'सिकन्दर मुझे जुपिटर की जोरू न बनाया करे तो अच्छा है। पर उसके इस कथन का एशियावासियों पर विचित्र प्रभाव पड़ता था। उसने प्रारम्भ ही में बड़े-बड़े काम किए जो चमत्कार कहे जा सकते थे। हलेस्पोर्ट को पार करना, ग्रेनीकिस को ज़बर्दस्ती ले लेना, विजित एशिया माइनर का राजनीतिक प्रबन्ध करते हुए भूमध्य सागर की यात्रा करना, टायर का घेरा, गाजानगर को तोपों से उड़ा देना, फारस की जय, मिश्र की विजय, कृष्ण सागर की सम्पूर्ण सेनाओं का मैसोपोटानिया के रेतीले मैदानों की ओर एकाभिमुख करना, फ्रात और हिसरिस महानदों को पार करना, अरबला के युद्ध में अद्भुत शौर्य प्रकट करना, ये सब ऐसे अद्भुत काम थे जो अब तक किसी सैनिक ने नहीं किए थे। इस महान विजेता के साथ, यूनानियों ने डेन्यूब से गङ्गा तक की यात्रा की, कृष्ण सागर के उसपार वाले देशों के उत्तरी वायु के झोंके

खाए। मिश्र के 'बादे समूम' के थपेड़े सहे, मिश्र के वे मीनार देखे जो दो हज़ार वर्षों से वैसे ही खड़े थे। लक्सर के गृहोत्तर बलित स्तम्भ और भेदपूर्ण स्त्री मुख और सिंह-शरीर-दानवों की कुञ्जें देखीं, उन महान् राजाओं की विशाल मूर्तियाँ देखीं, जिन्होंने सभ्यता के आदि काल में विश्वपर राज्य किया था। बैबिलोनिया के नगरकोट का ध्वंस देखा, जिसका घेरा साठ मील से अधिक था। और तीन शताब्दियों तक विदेशियों के उपद्रव सहकर भी अभी तक अस्सी फीट से अधिक ऊँचा खड़ा था। उन्होंने 'बेल' के उस गगनचुम्बी मन्दिर के ध्वंस भी देखे, जिस की चोटी पर वह बेधशाला थी, जहाँ से इन्द्रजाली कैलडियन ज्योतिषी रात को नक्षत्रों से बात चीत किया करता था। उन्होंने आकाश में लटकते हुए बाग़ भी देखे और उस पानी की कल का टूटा भाग देखा, जो नदी से उन वृक्षों तक पानी पहुँचाता था। उन्होंने उस असाधारण कृत्रिम झील को भी देखा जिसमें आरमिनिया के पहाड़ों का बर्फ पिघल-पिघल कर आता था, और फ्रात नदी के बन्धान से रुक कर सारे शहर में बहता था। इन सब दिग्दर्शनों ने उन मेधावी पुरुषों के मस्तिष्क में वह शक्ति उत्पन्न कर दी जिसके कारण इन्होंने आगे चलकर अलग्ज़ेंड्रिया में गणित और व्यवहारिक विद्या के शिक्षा-केन्द्र स्थापित किए और ग्रीस सारे यूरोप को ज्ञानदान देने का केन्द्र हो गया। सिन्ध नद को पार कर जब वे भारत में घुस आए तो दोनों प्राचीन जातियों के विचारों का विनिमय हुआ, भारत ने ग्रीकों से भयानक कष्ट देने वाले देवताओं को अपनाया और तंत्र ग्रन्थों की सृष्टि की। उधर अरस्तू भारत से यहाँ के देवता—आत्मवाद को ले गया, जिससे ग्रीक आगे चल कर तत्त्व-दर्शन में सारे योरोप का गुरु हो गया।

इस प्रकार ग्रीक का अन्ध विश्वास से पीछा छुटा, पर भारत में तान्त्रिक लोगों ने अन्ध विश्वास की जड़ें पताल तक फैला दीं। कापालिक लोग दर-बदर फिरा करते थे, और मरघट में कुत्सित और बीभत्स जीवन व्यतीत

करते थे। लोग उन्हें अलौकिक शक्तिसम्पन्न आदमी समझते थे। इन अन्धविश्वासों को योग के चमत्कारों से बड़ा सहारा मिला। आज भी लाखों मनुष्य योग की विभूतियों पर श्रद्धा रखते हैं। ये विभूतियाँ और सिद्धियाँ एकदम ढकोसले हैं। और मैं कहना चाहता हूँ कि आज तक दुनिया में न तो ऐसा कोई आदमी पैदा हुआ है, न कभी होगा, जो मच्छर बन जाय या पर्वताकार हो जाय, एक शरीर से दूसरे शरीर में घुस जाय, आकाश में उड़े, लोप हो जाय, या मरकर जी उठे। ये सब बिल्कुल झूठी असम्भव गप्पें हैं। योग दर्शन के निर्माण के बाद पैशाची भाषा के कुछ ग्रन्थों में, जिनका मूल उद्गम भी मध्य एशिया की जातियों के संसर्ग से हुआ, बड़ा प्रभाव पड़ा। पुराणों में जो असंख्य बुद्धिविपरीत बातें देखने को मिलती हैं, वे सब इसी की बदौलत गढ़ी गई हैं। योग-तन्त्र-मन्त्र जादू-टोने की बदौलत आज भी लाखों लोग भारत में पेट भरते हैं।

अन्धविश्वास ने अनेक कुसंस्कारों को जन्म दिया है। शकुन, स्वप्न, मन्त्र, जादू, टोने और भविष्यद्वाणियाँ उन्हीं के अङ्ग हैं। सब का एक ही अर्थ है—प्रकृति से परे किसी शक्ति में विश्वास करना। बहुत लोग स्वप्नों पर विचार किया करते हैं, उनके फलाफलों पर उनकी बड़ी आस्था होती है। एक बार राजा ज़मोरिन ने स्वप्न देखा कि चन्द्रमा के दो टुकड़े हो गए हैं। राजा ने उसका अर्थ दरबारियों से पूछा, पर वे ठीक-ठीक उत्तर न दे सके। इन्हीं दिनों कुछ अरब के व्यापारी वहाँ आए थे। राजा ने उनसे भी स्वप्न का हाल कहा। उन्होंने अंट-संट कुछ बता दिया। इस पर राजा मुसलमान हो गया। और उसके वंशधर आज तक मोपला मुसलमान हैं। स्वप्नों के प्रभाव की चर्चा आज की नहीं है, बहुत प्राचीन है। महाभारत, पुराण, भागवत आदि में स्वप्नों के प्रभाव के वर्णन हैं। राजा हरिश्चन्द्र ने स्वप्न ही में राज्य विश्वामित्र को दिया था, विक्रमादित्य की कहानियों में स्वप्नों के माहात्म्य की बहुत चर्चा है।

शकुन भी अन्ध विश्वासों की मज़ेदार मद है। मुग़ल बादशाह तक

शकुनों का बड़ा विचार करते थे। बिना शकुन मुहूर्त दिखाए वे कोई काम ही न करते थे। बिल्ली का रास्ता काट जाना, कौओं का बोलना, काने आदमी का सामने मिलना, गीदड़ का रोना, ख़ाली घड़े लेकर किसी का सामने आना, किसी का छींकना, ये सब अशुभ बातें मानी जाती हैं। भारत ही नहीं योरोप में भी इन शकुनों का बोलबाला है। यदि किसी स्त्री के हाथ से बर्तन साफ़ करने का कपड़ा गिर जाय तो वह कहेगा कोई आरहा है। हमारे यहाँ कौआ बोले तो हम कहेंगे कोई आरहा है। यदि बाईं ओर नया चाँद देखा जाय तो अपशकुन माना जाता है। यात्रा में दिशाशूल, चन्द्रमा-नक्षत्रों का विचार सर्वत्र है। योरोप में बहुत लोग शुक्र को ख़राब दिन समझते हैं, जब कि मुसल्मान उसे पवित्र समझते हैं। नमक का बर्तन गिर जाय तो योरोप में उसे ख़राब शकुन माना जाता है।

सूर्य और चन्द्रग्रहण के सम्बन्ध में सारे संसार की जातियों में अन्ध विश्वास फैले हुए हैं। ये ग्रहण अकाल और महामारी के सूचक हैं। पुच्छल तारे राजाओं की मृत्यु, विनाश तथा युद्ध के सूचक हैं। ग्रहण होने पर हम दान-धर्म करते हैं। योरोप के लोग प्रार्थना और बलिदान करते थे। महात्माओं की हड्डियाँ उनके पहने हुए कपड़ों के चिथड़े, शहीदों के बाल, ईसाको जिस सूली पर चढ़ाया गया था, उसकी लकड़ी के टुकड़े, महात्माओं के दाँत और नाख़ून पवित्र और रोगनाशक वस्तु समझे जाते हैं। हाल ही में दो बौद्ध भिक्षुओं के अवशेष खूब धूमधाम से सारे बौद्ध संसार में अपने प्रदर्शन के लिये फिराए जा रहे थे। तावीज और मन्त्र-तन्त्रों का बोलबाला है। कुछ समय पूर्व तक योरोप में भूत-प्रेत, जादू टोना और तावीज़ों का बड़ा प्रभाव था। कुछ योरोपीय देशों में तो अब भी है। पादरी मन्त्र पढ़ कर पानी छिड़क कर भूतों को भगा देते थे। गिरजे की पवित्र मोमबत्तियों और पवित्र क्रास से ये भूत भाग जाते थे। भारत में गायत्री मन्त्र के जाप से तथा अंटशंट मन्त्र पढ़ने से भूत भाग जाते हैं।

चमत्कार अन्धविश्वास की सबसे आकर्षक देन है। लोग चमत्कारों पर

बड़ा विश्वास करते थे। बहुत से महात्मा चमत्कार दिखा कर पुजते थे। लोग साधु-महात्माओं से चमत्कार ही देखने के इच्छुक रहते हैं। अनेक महात्माओं की कहानियाँ लोगों ने घड़ ली हैं। कोई तो एक ही काल में अनेक शहरों में दिखलाई देते हैं, कोई हवा में से वस्तु मँगा देते हैं, कोई मुर्दों को जिलाते और अन्धों को आँखें देते हैं। गरज प्रकृति के नियम के विरुद्ध जो कुछ भी किया जाय, वही चमत्कार है।

परन्तु प्रकृति एक रूप है, उसकी क्रिया और प्रतिक्रिया में एक नियम है। इसलिए चमत्कार सर्वथा असम्भव है, और कोई भी सच्चा आदमी उस पर विश्वास नहीं कर सकता। चमत्कार कहते ही उस बात को हैं, जो प्रकृति के नियम के विपरीत हो। परन्तु विज्ञान प्रकृति की एकरूपता में विश्वास रखता है। संसार की सब छोटी बड़ी घटनाएँ प्रकृति की सन्तान हैं। मेरा कहना यह है कि दुनिया में न कभी किसी ने चमत्कार किया है, न कोई कर सकता है। इन चमत्कार दिखाने वाले सन्त-महात्माओं, स्यानों, भूत-प्रेतों, देवताओं और दुष्ट आत्माओं की कपोल कल्पनाएँ केवल अज्ञानी और भयभीत मनुष्यों के मन की उस काल की भ्रान्त धारणाएँ हैं, जिस काल में अत्यन्त शिक्षित और अत्यन्त अशिक्षित मनुष्य समान रूप से मूर्ख थे। लोग समझते थे, ऊपर आकाश में वैकुण्ठ है, वहाँ भगवान् निवास करते हैं। जैसे संसार एक तितल्ला मकान है, जिसके ऊपर के तल्ले में भगवान् और देवता रहते हैं, बीच के तल्ले में मनुष्य और नीचे के तल्ले से भूत-प्रेत। वे उस स्वर्ग की मनोहर कल्पना करते थे, जहाँ मरने के बाद पुण्यात्मा जाकर भगवान् की मुसाहिबी करते हैं, साथ ही उस नर्क की भी, जहाँ गन्दगी से भरी वैतरणी नदी और नानाप्रकार के भयानक यमदूत प्राणियों को त्रास देते हैं। वे समझते थे कि परमात्मा ही की इच्छा से संसार के सब लोग भले बुरे काम करते और परमात्मा से दण्ड और इनाम पाते हैं। उनका यह साफ़ मतलब था कि परमात्मा नहीं चाहता कि मनुष्य विचारशील बने, और उचित अनुचित के भेद को समझे,

किसी काम के दायित्व को समझे। 'यश अपयश विधि हाथ' "भाग्यं फलति सर्वत्र" यही उनके विचार थे। उनका यही धर्म विश्वास था कि वह परमात्मा का आज्ञाकारी रहे, भक्त रहे, परमात्मा का नाम रटता रहे, उसी की खुशामद करता रहे, उसकी कृपा की भीख माँगता रहे। परमात्मा और उसके भाई-भतीजे देवता उसके सब अच्छे-बुरे काम सिद्ध कर देंगे। उसे स्वयं कुछ करने की आवश्यकता नहीं।

परन्तु अब विज्ञान ने भूगोल और खगोल के सारे ही रहस्य खोलकर मनुष्य को बता दिए हैं। मनुष्य ग्रह और नक्षत्रों के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें जान गया है। वह जान गया है कि स्वर्ग और नर्क जिनके सम्बन्ध में अन्धी बुढ़िया श्रद्धा और उसके बेटे अन्ध-विश्वास ने बहुत-सी झूठी मन-गढ़न्त बातें बताई थीं, वास्तव में कहीं भी नहीं हैं। बड़ी-बड़ी वेधशालाओं ने स्वर्ग नर्क के काल्पनिक देशों को खत्म कर दिया है। न शकुनों में कोई सार है, न चमत्कार ही सच्चे हैं, जन्त्र-मन्त्र जादू-टोना, झूठे ढकोसले हैं, अच्छे और बुरे दिन, दिशाशूल, योगिनी कुछ नहीं हैं। चन्द्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण का मनुष्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। न कहीं कोई देवता है, न भूत-प्रेत, न ईश्वर। अब तक मनुष्यों ने जितनी प्रार्थनाएँ कीं—व्यर्थ। जितने बलिदान किए, दान धर्म किए—व्यर्थ। यज्ञ हवन किए व्यर्थ।

जीवन और मृत्यु का प्रभावशाली प्रवाह हमारे सामने है। हम जान गए हैं कि प्रकृति एक हाथ से निर्माण करती है दूसरे से विनाश। सम्पूर्ण जीवन मृत्यु की ओर जा रहे हैं और सम्पूर्ण मृत्यु वापस जीवन की ओर। बिना किसी पूर्व अभ्यास के यह नाटक ज्ञानी अज्ञानी सभी को करना पड़ रहा है। हम चारों ओर रहस्यमयी प्रकृति से घिरे हुए हैं। हम समझने की चेष्टा करते हैं, और सब चीजों को समान रूप से आश्चर्यकारक पाते हैं। पानी की एक बूँद भी अथाह समुद्र जैसी आश्चर्यकारक है, बालू का एक कण भी हिमालय से समान आश्चर्यजनक है। एक मच्छर, एक तनिक-सा कीड़ा, एक अण्डा, एक अंकुर, एक फूल,

एक फल, एक नवजात बालक, ये सब के सब अनन्त आकाश में फैले हुए अगम्य नक्षत्रों जैसे आश्चर्य जनक हैं। बड़े से बड़ा विद्वान् भी एक छोटे से बीज की व्याख्या नहीं कर सकता, एक घास के तिनके का मूलाधार नहीं बता सकता, एक पत्ते के हिलने का भेद बयान नहीं कर सकता। वे जिन्होंने संसार, उसके निर्माता, स्वर्ग, नर्क सभी कुछ जानने का दर्प किया था। जिन्होंने अपने को ज्ञानी, धर्मात्मा, परमात्मा के प्रतिनिधि, रहस्यों के ज्ञाता प्रकट किया था, सब धोखा था। वे झूठे थे। उन्होंने हमसे 'अज्ञान' की पूजा कराई। 'अनुमान' को दण्डवत् कराए। अन्धविश्वास श्रद्धा और पौराणिक गपोड़ों पर विश्वास करके हमने अपनी अपार हानि की। चमत्कारों और जादू-टोनों पर विश्वास करके सारा संसार पागलखाना हो गया। मनुष्यों की निश्चयात्मक बुद्धि कुण्ठित हो गई। सन्देह और आशंकाओं ने हमारे हृदयों को अन्धकार में ला पटका। इस अन्धविश्वास के सामने आदमी भय से थर-थर काँपता हुआ उसके गुलाम की भाँति खड़ा रहा। प्रकृति अदृश्य-शक्तियों के हाथ का खिलौना बन गई। कार्य अपने कारणों से मुक्त हो गए। उनके आधार लोप हो गए। गुण-सम्बन्ध और परिणाम का तारतम्य न रहा। यह बेईमान अन्धविश्वास, तर्क को सिंहासन से नीचे धकेल कर स्वयं राजाधिराज बन बैठा। इसने संसार के सब मनुष्यों का दिल पत्थर का और दिमाग़ खोखला कर दिया।

इन अदृश्य ईश्वर और देवताओं की कृपा प्राप्त करने के प्रयत्न में मनुष्य की कितनी शक्ति ख़र्च की गई। कार्य, खोज, चिन्तन, मानसिकश्रम, अनुभव और परीक्षण के स्थान पर मनुष्य शताब्दियों तक रीति-रिवाज, प्रार्थना, बलिदान और उपवास जैसे निरर्थक और हास्यास्पद काम करते रहे।

इसी अंध विश्वास ने झूठे देवताओं और भूत-प्रेतों को जन्म दिया, भविष्य वक्ताओं और पैगम्बरों, संतों, महात्माओं और सिद्धों को पैदा किया। आकाश को चमत्कारों से, और मानवता के इतिहास को झूठ से भर दिया। इसने मनुष्य से पत्थरों, वृक्षों, सर्पों और पशुओं तक की पूजा कराई,

अपने बच्चों तक की बलि कराई। मनुष्यों का धन और श्रम ठग लिया, मंदिरों, मस्जिदों और गिर्जाघरों की रचना कराई, मन्त्रों और ताबीजों से संसार को पाट दिया। दूसरों को दुख देने की कूट रीतियाँ सिखाईं। लाखों मनुष्य तलवार और आग की भेंट कराए। सोचने, विचारने और वाणी की स्वतन्त्रता छीन ली। इसने हमें निरर्थक प्रार्थनाएँ सिखाए, दण्डवत् सिखाए, जीवन के सुखों से मुँह मोड़ने और कामक्लेश सहन करने के उपदेश दिए। बन्धु-बान्धव, स्त्री-बच्चों को मिथ्या-माया कहकर उन्हें त्यागने की सलाह दी। विश्वास को ज्ञान से बढ़कर बताया। यह उन्नति का कट्टर शत्रु, शिक्षा और ज्ञान का पक्का दुश्मन, विचारशीलता का हत्यारा, अन्ध विश्वास हमें वास्तविक संसार से निकालकर काल्पनिक संसार में ले गया। इसने मनुष्य का सारा सुख, सारा विकास, सारा ज्ञान ही चौपट कर डाला।

इसने हमें धर्मग्रन्थों पर श्रद्धा रखने की सलाह दी। सारे ही संसार के धर्मग्रन्थ मानवीय तर्कों से परे हैं, विश्वास ही इनका आधार है। इन पर विश्वास करना ही चाहिए। नहीं तो नर्क ही नर्क के भयानक दण्ड हैं। इन धर्मग्रन्थों के विषय में सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं है। संसार भर के धर्मग्रन्थों में परस्पर विरोधी, प्रकृति और विज्ञान के विरुद्ध बातें भरी हैं। लोग इनकी बेवकूफियों में सूक्ष्मतम बुद्धि के दर्शन करते हैं। इन धर्मग्रन्थों ने संसार के मनुष्यों को अनगिनत मत-मतान्तरों में बखेर दिया। इन सम्प्रदायों में जो परस्पर ईर्षा और विद्वेष की आग भड़की तो हजारों तलवारें मनुष्य के खून से लाल हुईं। जलती चिताओं पर जीते आदमी जलाए गए, अबोध बालक दीवारों में चुने गए, न जाने क्या २ करने न करने के काम हुए। इन धर्मग्रन्थों की परस्पर विरोधी बातों की तुक भिड़ाने में हजारों ग्रन्थ लिखे गए, करोड़ों प्रयत्न किए गए। भाष्यकारों ने साधारण वाक्यों के बड़े २ टेढ़े जटिल अर्थ किए, और सारे संसार के मनुष्यों के दिमागों की सचाई की हत्या कर डाली। मनुष्यत्व को मार डाला। न्याय और दया से मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क को शून्य करके भय के कारागार

में डाल दिया। अब आप सोचिए, संसार के असंख्य मनुष्यों ने इस भय के कारण कितना कष्ट उठाया। ये धर्मग्रन्थ मनुष्य जाति पर एक अभिशाप बन गए! अनेक शताब्दियों तक ये धर्मग्रन्थ हमें अंधकार की ओर ले जाते रहे। हम न प्रगति कर सके न आविष्कार। इन धर्मग्रन्थों ने इसी बात पर जोर दिया—कि परलोक के मुकाबिले इस लोक का कोई महत्व नहीं है। शताब्दियों से असंख्य मनुष्य जीवन भर परलोक की तैयारी करते रहे। उनका सब धन और श्रम इसी बेहूदे काम में खर्च हुआ। कुछ मनुष्यों ने सोचना विचारना प्रारम्भ किया। उन्हें संसार से दिलचस्पी हुई। 'संसार असार है' इस बेहूदे विचार को उन्होंने त्याग दिया। अन्धविश्वास और अन्धी श्रद्धा को एक साथ उन्होंने त्याग दिया। घटनेवाली घटनाओं और उनके कारणों की खोज की, उन्होंने अपने चारों ओर ध्यान से देखा, उन्होंने ईश्वर और देवता का आसरा त्याग दिया और वे सांसारिक तथा बुद्धिमान् बन गए। उन्होंने आविष्कार करना, पता लगाना, शुरू किया। उन्होंने इस बात की खोज की कि वे कौन २ सी बातें हैं जो मनुष्य को सुखी बनाती हैं। किन साधनों से मनुष्य सुखी हो सकता है। उन्होंने छापने की विद्या ढूँढ निकाली, कागज बनाना सीखा, पुस्तकें छापनी प्रारम्भ कीं, जिससे मनुष्य को प्रत्येक पीढ़ी की मानसिक सम्पत्ति अगली पीढ़ी के लिए मिलती चली गई। दन्त-कथा और पौराणिक गपोड़ों की जगह इतिहास ने ले ली। उन्होंने धरती खोद डाली, हज़ारों वर्ष से भूगर्भ में गड़े हुए नगरों के ध्वंसों को खोद निकाला, भाप की शक्ति का पता लगाया, बिजली को तारों में बाँधा, दूर-वीक्षण यन्त्र बनाए, नक्षत्र की गतिविधि देखी, लाखों करोड़ों मनुष्यों के काम करनेवाले भाप और बिजली के एञ्जिन बनाए, रेलगाड़ियाँ धड़-धड़ाने लगीं, तार, रेडियो और टेलीवीजन अपना असली जादू दिखाने लगे। जादूगरी की जगह रसायन शास्त्र ने ले ली। फलित ज्योतिष गणित ज्योतिष बन गया। केपलर ने तीन महा नियमों का पता लगाया, न्यूटन ने पृथ्वी के आकर्षण का भेद हमें बताया, हारवे ने रक्त-प्रवाह का पता

लगाया, ड्रेपर ने उसका कारण खोज निकाला। जल-जहाजों ने समुद्र पर और हवाई जहाजों ने आकाश पर आधिपत्य जमा लिया। गैस और बिजली से घर नगर जगमगाने लगे, दियासलाई ने आग को मनुष्य के जेब में डाल दिया, फोटो ने चित्रकारी में वास्तविकता ला दी। लाखों की संख्या में दैनिक पत्र छपने लगे। समुद्री तार लगे। बिजली विचारों का वाहक बन गई। जातियाँ एक दूसरे की पड़ोसी हो गईं। विश्व सिमट कर एकत्र हो गया। क्लोरोफार्म ने मनुष्य की वेदना को गहरी नींद में खो दिया शस्त्र-चिकित्सा एक विज्ञान बन गई। फोटोग्राफी ने मनुष्य की वाणी को चिन्हों में सुरक्षित रखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार इन महान् विचारकों ने शक्ति और जड़ पदार्थ का अविनाशीपन सिद्ध कर दिया। उन्होंने बताया जो कभी नष्ट नहीं होता वह कभी पैदा भी नहीं होता। जीव विज्ञान के आचार्यों ने जीवन की प्राचीनता की स्थापना की। धर्मग्रन्थों के गपोड़े झूठे हो गए। विज्ञान ने अंध विश्वास को सिंहासन से खींचकर नीचे उतार दिया। महान् सिद्धान्त और असंख्य आविष्कारों ने मनुष्य को मानसिक स्वतन्त्रता का प्रसाद दिया।

इन विचारकों ने प्रकृति पर विश्वास किया। अपना घर, और अपने संसार में मन लगाया। ज्ञान और मस्तिष्क के विकास को बढ़ाया। अंध विश्वास को धत्ता बताकर विज्ञान को अपनाया। इन्होंने अपनी परछाईं को ईश्वर समझने और उसे अपना मालिक समझ उसकी दासता को कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करने की बेवकूफी नहीं की। इनका एक ही मूल सिद्धान्त रहा—कि मनुष्य अपने प्रति और अपने आदर्शों के प्रति सच्चा रहे। इन्होंने इस भेद को जान लिया कि इस अन्धी श्रद्धा और अन्ध विश्वास ने उन्हें भय दिया, आलसी बनाया, कट्टर बनाया, भिखमंगा और दास बनाया, प्रार्थना और ढोंग सिखाए, दरिद्रता-रोग और मृत्यु दी। इन्होंने मनुष्य को विज्ञान का मूल्यवान् रत्न दिया, उससे मनुष्य सम्पन्न बन गया, अपने ही मन की गुलामी से मुक्त हो गया, विज्ञान मनुष्य का मुक्ति दाता बना। वह मनुष्य को श्रेष्ठ और महान् बनाएगा।

१

'दार्शनिक' अङ्क के आंशिक मजनू

धर्म-मीमांसा के लिए 'दर्शन-शास्त्र' का जन्म हुआ है। धर्म के सत्यासत्य को तोलने के लिये दर्शनशास्त्र तराजू हैं। दर्शनशास्त्र धार्मिक गूढ़ तत्त्वों की छानबीन करता है। धर्म की यह छानबीन सबसे पहले भारतवर्ष ही में शुरू हुई। भारत में धर्म का विकास अन्य संसार की सभी संस्कृतियों से पहिले हुआ। संसार का सबसे पहिला 'विश्व धर्म' बौद्ध धर्म के रूप में भारत ही में उदय हुआ। बौद्ध धर्म के उदय के साथ ही भारत में दर्शनशास्त्र का जन्म हुआ। हिन्दु-धर्म में दर्शनशास्त्र अथवा तत्त्वज्ञान का उदय होने पर सारे मानवों के उद्धार और पतन की दैवी मीमांसा के साथ व्यक्तिगत मोक्ष के विचारों को भी महत्त्व मिला।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिन्दु धर्म पाँच अवस्थाओं से गुजरा १— संघधर्म, २ अनेक देववादी धर्म, ३ वैदिक धर्म, ४ शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि विश्व धर्म, ५ पुराणोक्त हिन्दु धर्म।

अत्यन्त प्राथमिक अवस्था में जब कृषि-शिल्प और भूमि संस्कार का प्रारम्भ हो रहा था, भिन्न २ व्यवसाय और श्रम-विभागों के संघ बन गए थे, सूर्य-चन्द्र, अग्नि, नाग, गणपति, नन्दी, पीपल, गंगा आदि इन संघों के देवता थे। 'यातु धर्म' भी संघों का था जिसमें जादू-टोना महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। कुछ प्रान्तीय देव थे कुछ ग्रामदेव,। 'काली' बंगाली देवी हैं, 'शीतला' गौर प्रदेश की। 'गौरी' बिहार की, 'षड़ानन' 'स्वामि-कार्तिक तामिल के, 'विठोबा', महाराष्ट्र के देव हैं। बड़-पीपल-पोकर आदि के वृक्ष भी देवता माने गए हैं। अथर्व वेद में वनस्पतियों को ही देवता

समझकर उनसे प्रार्थना की गई है। गूलर-पीपल-बड़-शमी, यज्ञीय वृक्ष है। गाय-बैल यज्ञ पशु हैं। इसी से इनमें पूज्य भावना और देव भावना का समावेश हुआ। संसार के सारे पाश्चात्य और पौर्वात्य मानववंशों में नर-मेध—मनुष्य-बलि की प्रथा थी। धान्य, पशु-प्रजा की समृद्धि के लिए मनुष्य शरीर के आत्म द्रव्य का उपयोग होना श्रेयस्कर माना जाता था। इसी लिए नर-मांस-भोजन का भी प्रचलन हुआ।

वैदिक आर्यों से पहिले भारत में जो एक सुसंस्कृत समाज था उसकी सभ्यता और धर्म में इजिप्ट, ग्रीक, सुमेर, असीरिया, बाबिलोनिया और चाल्डिया के नृवंशों की सभ्यता और धर्म में बहुत समानता थी। संभवतः वह एक ही नृवंश उस प्राचीन विश्व में फैला हुआ था। उस नृवंश में काली, शिव, विष्णु, लिङ्ग, चन्द्र, ग्रह, और पितृपूजा समान भाव से प्रचलित थी। देवदासी-पद्धति, मूर्तिपूजन, मुहूर्तफल, ज्योतिष, मन्दिर-पुजारी, जोशी आदि भूमध्य सागरीय नृवंश संस्कृति के अंग थे। इस प्रकार नील, युफ्राटिस—तैरिस (दजला-फरात) और सिन्धुनद के तीर पर प्रचलित संस्कृति-धर्म और सभ्यता का उत्तराधिकार हिन्दु-धर्म को मिला।

वैदिक आर्य प्रारम्भ में सारे भारत पर सार्वभौम सत्ता स्थापित न कर सके थे। उत्तर भारत और भारत के वायव्य कोण ही में उनका विस्तार हुआ था। परन्तु उनका सांस्कृतिक प्रभाव शीघ्र ही समूची भारतीय अवैदिक प्रजा पर भी हो गया। ये आर्य निसर्ग शक्तियों में चैतन देवों की कल्पना कर उनकी उपासना करते थे और यह उपासना ही 'यज्ञ' था। यज्ञ के द्वारा वे देवताओं को सन्तुष्ट कर अपने भौतिक साध्यों को ही उनसे प्राप्त करने को ध्येय मानते थे। सूर्य की उपासना वे सूर्य, सविता, पूषन्, मित्र और भग नाम से करते थे। ऋग्वेद में द्यवा, पृथ्वी, वरुण, विश्वकर्मन अदिति, त्वष्टा, उषस, अश्वी, इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, मरुत्, रुद्र, पर्जन्य, अग्नि, सोम, यम, पितर, देवों का स्तवन किया गया है। ऋषिगण इन देवों में सर्वशक्ति मत्ता और सर्वज्ञता का वर्णन करते हैं। इसी से प्रत्येक देवता, ईश्वर बनता

चला गया। ख़ास कर यजुर्वेद में इन देवताओं का पृथक् शक्तिमत्त्व स्वीकार किया गया है। किन्तु अथर्व में इन देवताओं का जादू टोने में उपयोग हुआ है। अथर्व का यह जादू टोने का धर्म ऋग्वेद के आर्यों ही का है। वशिष्ट, भृगु, आंगिरस और अथर्वन गोत्र के ऋषि जादू-टोना में प्रवीण थे। तत्कालीन आयुर्वेद भी जादू-टोने का था। उनका आधार यह था कि मनुष्य के भौतिक जीवन में भौतिक महान् शक्तिसंपन्न देवताओं का नित्य सम्बन्ध है। आगे चल कर पुराणों में इन ऋषियों की यह जादूगरी उनकी 'शाप' देने की शक्ति में बदल गई।

'अग्नि' और 'सूर्य' पर इन वैदिक आर्यों की अनेक भौतिक आवश्यकता निर्भर थी। इसीलिए वैदिक गृहस्थ नित्य उनकी उपासना करता था। यही 'अग्निहोत्र' था। 'पशुपालन' और 'कृषि' उनका प्रधान व्यवसाय था। उसके अग्निहोत्र का अभिप्राय था—अन्न, पशु, धन, शरीर, पत्नी, दास, पुत्र, की वृद्धि हो, रोग, शत्रु का नाश हो। बहुत काल बाद—ब्राह्मण ग्रन्थों में स्वर्ग और परलोक का -मरणोत्तर गति का विचार इस कर्मकाण्ड में प्रविष्ट हुआ। देवयानगति पितृयान गति, अन्धतमस, देवलोक पितृलोक, पुनर्जन्म, आदि की विस्तृत चर्चा उपनिषदों में की गई, जिसे हम उत्तर वैदिक साहित्य कह सकते है। 'संस्कारों' 'आश्रमों' और 'वर्णों' का समावेश भी हुआ। सोलह संस्कारों की कल्पना उत्तर स्मृति साहित्य में है। सर्वाधिक प्राचीन स्मृति गौतम धर्म सूत्र में चालीस संस्कार गिनाए गए है। सोलह संस्कारों का सम्बन्ध ख़ास तौर पर अथर्ववेद के साथ है। गृहसूत्रों में उनकी विस्तृत व्याख्या है। इन संस्कारों का एक रूप-जातकर्म-नामकरण-चोल-उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि-अफ्रीका आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा पैसेफिक द्वीपों में बसी हुई आदि जातियों में भी है।

वेदों में दोही आश्रम माने गए है, ब्रह्मचर्य और गृहस्थ, परन्तु वेद के अन्तकाल में उपनिषद चार आश्रमों की चर्चा करते हैं। गौतम तो एक ही

आश्रम मानता है। सम्भवतः वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम भी वैदिक आर्यों ने अवैदिकों से लिया है।

चार वर्णों का नाम सबसे प्रथम ऋग्वेद के दसवें मण्डल में ऋग्वेद के अन्तिम काल में मिलता है। वह 'आर्य वर्ण' और 'दास वर्ण' भी मानता है। प्रारम्भ में सभी आर्यों का एक ही वर्ण था, पीछे चार भेद हुए। आर्यों वर्ग में राजन्य, ब्राह्मण और वैश्य ये तीन विभाग हो गए। ब्राह्मण और राजन्य के हाथों में सामाजिक आधिपत्य के सारे सूत्र आ गए, यज्ञ धर्म का अधिकार भी इन्हीं का रहा। कृषि और शिल्प में प्रवीण आर्येतरों को उन्होंने शूद्र बना दिया। वैदिकेतरों को अपने अधिकार में लाने के लिए धर्म कल्पना का बहुत उपयोग हुआ। कहा गया—प्रजापति ने यज्ञार्थ ही धन निर्माण किया है। इससे विशेष अवसरों पर 'शूद्रों' का धन अपहरण करना धर्म ठहरा दिया गया। पीछे स्मृतियों में तो शूद्रों से वार्षिक साठ टका ब्याज और लगान लेने का हक आर्यों का स्वीकार कर लिया गया। आर्यों ने वैदेकेतरों को सामाजिक दासता में बनाए रखने के लिए वैदिक धर्म की पवित्रता का उपयोग किया, आर्येतरों को वैदिक आचरण नहीं करने दिए। वेदाध्ययन करने पर, यज्ञ-तप करने पर शूद्र को प्राणदण्ड तक होता था। राम तक ने एक शूद्र को केवल 'तप' करने के अपराध में मार डाला था। वैदिक यज्ञ और स्मार्त धर्म से पवित्र हुआ आर्य, समाज का स्वामी था। यह पवित्रता उसे ब्राह्मण से प्राप्त होती थी। इसलिए ब्राह्मण का पद आर्यों में सर्वोत्तम माना गया। उसके अधिकार असीम हो गए। व्यभिचार और हत्या के अपराध पर भी उसे प्राण-दण्ड नहीं दिया जा सकता था। यह सब वर्णों की स्त्रियों से विवाह कर सकता था, बिना विवाह के भी रखैल के तौर पर रख सकता था। दूसरे वर्ण का पुरुष या शूद्र ब्राह्मण स्त्री से व्यभिचार करता तो उसे प्राण-दण्ड मिलता था। त्याग-संयम-तप-ज्ञान का ब्राह्मण के लिए कुछ महत्त्व न था, उसे केवल वेद पढ़ना आता हो यही यथेष्ट था। क्षत्रिय के अधिकार उससे कुछ कम थे।

ये उच्च आर्य शूद्रों और हीन वर्णों की स्त्रियों में जो सन्तान पैदा करते थे। वे वर्णसंकर कहातीं थीं। धीरे-धीरे इन वर्णसंकरों की एक महा जाति बन गई। इन वर्णसंकरों और आर्येतरों ने संगठन कर आर्य धर्म, वैदिक देवता और यज्ञ प्रभाव, सब पर सन्देह करना प्रारम्भ कर दिया। इस विरोधी गुट्ट के दो दल बन गए। कुछ ने वैदिक संस्कृति के विरोधी 'धर्म' की स्थापना की, महावीर और बुद्ध इनमें प्रमुख थे। कुछ ने धर्म समीक्षा के लिये दर्शन शास्त्रों की सृष्टि की। ये दर्शन-शास्त्र धर्म प्रकरण के सत्यासत्य की तोलने की तराजू थे।

सबसे पहिले धर्म की जाँच-पड़ताल प्रारम्भ हुई। धर्म क्या है? इस पर बौद्धिक प्रयास हुआ। जैमिनी, व्यास और कणाद ने धर्म लक्षण कहे। आपस्तम्ब, वशिष्ठ, बोधायन ने भी धर्म लक्षण कहे. पर वे जैमिनी-व्यास और कणाद के धर्म लक्षणों के पूरक थे। जैमिनी ने पूर्व मीमांसा में, व्यास ने महाभारत में, और कणाद ने वैशेषिक दर्शन में धर्म की व्याख्या की।

जैमिनी कहता है—"चोदना लक्षणोऽर्थोधर्मः" अर्थात् आज्ञा से, प्रेरणा से, अथवा विधि से ज्ञात होने वाली श्रेयस्कर क्रिया ही धर्म है। 'चोदना' का अर्थ है प्रेरणा। प्रेरणा दो प्रकार की होती है, एक शाब्दीभावना, दूसरी आर्थी भावना। कुमारिलभट्ट ने अपने तन्त्र वार्तिक में इस प्रेरणा का खूब विवेचन किया है। शाब्दी भावना का अर्थ है—शब्द के पीछे रहने वाली आज्ञापक शक्ति। पूर्व मीमांसा के अनुसार यह आज्ञापक शक्ति 'वेद' है। वेद अनादि हैं, वेद किसी ने नहीं बनाए। ईश्वरवादी कहते हैं, कि वेद ईश्वर की वाणी है। आर्थी भावना का अर्थ है—यह क्रिया मुझे करनी चाहिए, इससे मेरा कल्याण होगा, ऐसी भावना से उत्पन्न प्रवृत्ति। जैमिनी की यह धर्म-व्याख्या संसार के अन्य धर्मों पर भी लागू होती है। जरथुष्ट, मूसा, कनफ्यूशस, ईसा अथवा मुहम्मद को ईश्वर-साक्षात्कार हुआ ऐसा माना जाता है। ईश्वर की प्रेरणा ही से उन्होंने उपदेश दिया, उनके वाक्य इलहाम हैं, यह दैवी उपदेश, इलहाम (Divine inspiration)

हो 'चोदना' है। कौन काम श्रेयस्कर है इसका निर्णय मनुष्य नहीं कर सकता, यह दिव्य अलौकिक शक्ति का काम है। जैमिनी वेदों में श्रेयस्करता मानता है। 'श्रेयस्' का अर्थ है 'इष्ट'। इस लोक तथा परलोक में इसकी प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार ही श्रेयस है।

व्यास का धर्म लक्षण जैमिनी से सर्वथा भिन्न है। उसने जैमिनी की भांति शब्द-प्रामाण्य को महत्त्व नहीं दिया। वह कहता है—'कोई कहते हैं श्रुति में धर्म कहा है, कोई कहते है नहीं। परन्तु इसका कुछ निश्चय नहीं है, क्योंकि श्रुति में सभी कुछ कह देना शक्य नहीं है। व्यास ने महाभारत में जो धर्म मीमांसा की है, वह बुद्धिवादी अधिक है। विश्वास पूरक क्रम ऐसा प्रतीत होता है, जब श्रौत-स्मार्त परम्परा में से लोगों का विश्वास कम होने लगा, और लोग विचार करने लगे, तभी व्यास ने भी ये विचार प्रकट किऐ। व्यास ने महाभारत के शान्ति पर्व में वैदिक पशुयाग की निन्दा की हैं, एकेश्वर भक्ति, और वर्ण व्यवस्था को भी अस्थिर कहा है। राज्य संस्था और वर्ण व्यवस्था की बुद्धिवादी उत्पत्ति बताई है। और उसका संबंध राज्य व्यवस्था से बताया है। श्रद्धा की अपेक्षा नैतिकता को श्रेष्ठ कहा है। नैतिक तत्त्व ही सब धर्मों के आधार हैं। इसी बात पर जोर दिया है। सर्वभूत-हित ही धर्म का सार है, सबको समान रूप से परमार्थ साधन का अधिकार है। धर्म निर्णय में केवल वैदिक शब्द ही प्रमाण नहीं है, बल्कि सर्वजन-हितैषी मनीषियों के विचार और मानव बुद्धि भी प्रमाण हैं। व्यास कहता है—'धारण करता है इसलिए धर्म कहा जाता है। धर्म ही से प्रजा का धारण होता है, इसलिए जो धारण से युक्त है वही धर्म है।' वह कहता है लोक व्यवहार को भलीभाँति चलाना ही धर्म का प्रयोजन हैं। व्यास के इस कथन से प्रकट होता है कि उसने धर्म को शुद्ध सामाजिक रूप देना चाहा था। वह वर्णों को, वेदों को, यज्ञों को महत्त्व नहीं देता। वह सत्य, अहिंसा और संयम को धर्म का मूल मानता है। और मानव जीवन की परीक्षा पर उसका मूल्य निर्णय करता है। महाभारत में शान्ति और अनुशासन पर्व में

परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल, देवता, ईश्वर, योगी, कवि, परमेश्वर, अवतार, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नर्क, आदि के बहुत वर्णन हैं। परन्तु इनका कहीं कोई प्रत्यक्ष आधार नहीं है। उन्हें केवल साधारण लोगों को सत्पथ में लगाने के लिये संकेत रूप में दिया गया है।

कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः" यह धर्म का रूप कहा है। अभ्युदय इस लोक की, निःश्रेयस-परलोक मोक्ष की—दोनों सिद्धि जिस क्रिया से हों वही धर्म है। कणाद आचरण या क्रिया को नहीं, आचरण अथवा क्रिया करने वाले के आत्मा पर होने वाले अदृष्ट शुभ संस्कार या पुण्य परिणाम को धर्म मानता है। वह कहता है—अच्छे और बुरे काम के अच्छे और बुरे परिणाम ही मनुष्य को अच्छी या बुरी गति देते हैं। इस परिणाम को वह 'अदृष्ट' कहता है। चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनकार इस 'अदृष्ट' को स्वीकार करते हैं। बौद्ध और जैनी भी स्वीकार करते हैं। मीमांसक इसी 'अदृष्ट' को 'अपूर्व' कहते हैं। ईश्वर कृपा भी अदृष्ट का परिणाम है। ऐसा शैव और वैष्णव मानते हैं। ईश्वर कृपा और कोप अदृष्ट का ही परिणाम है, ऐसी उनकी धारणा है। आप देखेंगे कि कणाद ने यह लक्षण स्थिर करने में मानव बुद्धिगम्य कर्म का कार्य कारण भाव नहीं लिया है। उसका अभिप्राय यही है कि धर्म क्षेत्र मानव बुद्धि के लिए 'अदृष्ट' है। फिर भी कणाद ने वैशेषिक दर्शन में विश्व के स्वभाव और कार्य कारणभाव की बौद्धिक उपपत्ति अत्यन्त व्यापक रूप से व्याख्यात की है।

अब ज़रा इस धर्म प्रमाण पर विचार भी कर लिया जाय। इस सम्बन्ध में सब दार्शनिकों के मतों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक पक्ष कहता है कि धर्म मानव-बुद्धि-गम्य है—मनुष्य की बुद्धि ही धर्माधर्म का निर्णय करती है, धर्म शास्त्रों का निर्माण मनुष्य की बुद्धि ने किया है। वेद, अवेस्ता, बाइबिल, कुरान आदि सब धर्म-ग्रन्थ मनुष्य की बुद्धि से ही लिखे गए हैं। यह हुआ धर्म का लौकिक प्रमाणवाद।

परन्तु दूसरा पक्ष है अलौकिक प्रमाणवाद का। वह कहता है धर्माधर्म का ज्ञान असाधारण अलौकिक बुद्धि ही से होता है। इसके लिए दिव्य-चक्षु, दिव्य-दर्शन, अपौरुषेय शब्द, आध्यात्मिक साक्षात्कार, यौगिक प्रत्यक्ष, आर्ष प्रज्ञा, और त्रिकाल-दृष्टि चाहिए।

पहिले पक्ष के दो पहलू हैं, एक ऐतिहासिक दूसरा अनैतिहासिक। ऐतिहासिक पक्ष तो यह है कि जैसे-जैसे समय-समय पर मनुष्य के समाज का विकास हुआ वैसे ही वैसे धर्मों में भी परिवर्तन होता चला गया। सामाजिक विकास क्रम से ही मनुष्य के मन की और बुद्धि की परिणति हुई और उसी के अनुसार धर्म में परिणति हुई। धार्मिक अनुभव बुद्धिवादी मानवीय अनुभव हैं, दिव्य या अलौकिक नहीं।

दूसरा पहलू अनैतिहासिक है—उसका कहना है कि धर्म विशिष्ट मानव बुद्धि का विषय है। सिद्ध-सन्त, तपस्वी तथा सात्त्विक बुद्धि के स्थितप्रज्ञ साधु ही धर्म निर्णय कर सकते हैं।

बृहस्पति, चार्वाक्, उशना आदि प्राचीन अर्थशास्त्री कहते हैं कि धर्म की उत्पत्ति मानव बुद्धि से हुई है, चार्वाक तो उसे मानवीय भ्रान्ति और प्रमाद कहता है। वह धर्म-ग्रन्थों को झूठे और पुनरावृत्तियों का जमघट बताता है। परन्तु महाभारत में जो श्रौत स्मार्त-धर्म को गौणता देकर धर्म को बुद्धिवाद पर आधारित किया है, उससे पता लगता है कि व्यास के सामने ही विश्वधर्म जन्म ले रहा था। और विशिष्ट जाति और दलों के आगे मनुष्यता का महत्त्व बढ़ने लगा था। इसी ने तो विश्वधर्म की नींव डाली। इस समय ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नर्क सारी ही कल्पनाएँ नैतिक-धर्म की सेवा करने लगी। परन्तु व्यास ने इन कल्पनाओं के सम्बन्ध में तर्क नहीं किया, श्रद्धा से ही उनका प्रामाण्य स्वीकार कर लिया। केवल नैतिक आचरण का उनसे गठजोड़ा कर दिया।

बहुत दिन तक वेद को अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण माना जाता रहा। सूत्रकाल में वेद की प्रामाणिकता में सन्देह उठ खड़ा हुआ।

यास्क ने निरुक्त में कौत्सऋषि का यह मत उपस्थित किया कि 'वेद अर्थ-हीन' हैं।' उसने यह भी कहा कि अलौकिक रीति से मुनियों को वेदज्ञान हुआ। कणाद ने भी कुछ ऐसी ही बात कही। पाणिनी ने वेदों को 'लोक-विलक्षण' कहा। पतञ्जलि ने उन्हें अनादि-नित्य कहा। उसने कहा—वेद का अर्थ नित्य है; शब्द अनित्य है। वैदिक आचार्यों ने वेदों की स्थापना तीन तरह से की। (१) ऋषियों को दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई; उन्हें वेद-ज्ञान हो गया। (२) नैयायिक-शैव-वैष्णव कहते हैं कि ईश्वर की कृपा से वेद का धर्मज्ञान मनुष्य को हुआ। (३) पूर्वोत्तर मीमांसकों का कहना है कि वेद अपौरुषेय हैं। जैमिनी ने धर्म प्रमाण का निर्णय किया और कहा—प्रत्यक्ष और अनुमान धर्म प्रमाण नहीं है। वेद रूप शब्द ही धर्म का स्वतः सिद्ध प्रमाण है। बादरायण ने भी ब्रह्मसूत्र में यही कहा। जैमिनी ने ई० पू० पहिली शताब्दी के लगभग पूर्व मीमांसा रची। इस पर शंबर स्वामी और कुमारिल भट्ट ने जैमिनीय सूत्रों की विस्तार से टीका की। शबर स्वामी चौथी शताब्दी में और कुमारिल सातवीं में हुए, इन आचार्यों ने कहा—मनुष्य बुद्धि द्वारा अगम्य कार्य-कारण-भाव कहने के लिए वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। कुमारिल भट्ट ने अपना भाव भी स्पष्ट कर दिया, उसने कहा—यदि वेद में एकबार भी मनुष्य-बुद्धि को स्थान दिया गया तो वैदिक मार्ग समाप्त हो जायगा। इसलिये वेदों का विषय अदृष्ट ही मानना ठीक है। कुमारिल और शबर ने सबसे प्रथम यह घोषित किया कि ईश्वर, आत्मा-पुनर्जन्म, अदृष्ट आदि मूलभूत धर्म-कल्पनाएँ मानव-बुद्धि से नहीं जानी जा सकतीं हैं, ये तत्व वेदगम्य हैं। इनसे प्रथम बहुत आचार्यों ने इनकी युक्तिवाद से कल्पनाएँ कीं थीं।

भारतीय अवैदिक धर्मों में शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि हैं। शैव वैष्णव मानते हैं, ईश्वर प्रत्यक्ष धर्मोपदेश करता है। बौद्धों और जैनों का कथन था कि धर्म सर्वोच्च शुद्ध और पूर्ण परिणत मानव बुद्धि से प्राप्त होता होता है। कुमारिल ने विरोध करते हुए कहा—शैव-वैष्णवों का ईश्वर और

बौद्ध-जैनों का परिणत-प्रज्ञ सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता। जैनों और बौद्धों ने वेदों की काफी निन्दा की, और कहा—वेद धर्मप्रमाण नहीं हैं, धर्मप्रमाण वीतराग अन्तःकरण है। इस विचारधारा का खण्डन किया मीमांसकों ने। उन्होंने कहा—वीतराग स्थिति और सर्वज्ञता मनुष्य को प्राप्त हो ही नहीं सकती। इधर गत १२ सौ वर्षों से तो धर्म सम्बन्ध में हिन्दुओं के विश्वासों का आधार कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ही रहे हैं। परन्तु इन आचार्यों ने जैनों और बौद्धों को तो बुद्धि की कसौटी पर कसा। पर वेद की प्रामाणिकता पर उसका उपयोग नहीं किया। इसी तरह जैनों और बौद्धों ने जिस तर्क का आसरा वैदिक मार्ग के खण्डन में लिया उसका उपयोग अपने पक्ष के समर्थन में नहीं किया। यदि दोनों पक्षों के तर्क और बुद्धिवाद को एकत्र कर इन सब परस्पर विरोधी धर्म-संस्थाओं को देखा जाय तो इनकी आधार शिला—अलौकिता छिन्न भिन्न हो जायगी। अपौरुषेय वेद, अनादि ईश्वर, योगी, अवतार, देवता, विभूतियाँ, पैगम्बर और वीतराग मुनि तथा मन्त्रद्रष्टा ऋषि इनमें एक भी क़ायम न रहेगा।

आधुनिक काल में सर्वश्री स्वामी दयानन्द, राजाराममोहनराय, विवेकानन्द, रामतीर्थ, केशवचन्द्रसेन, रानाडे, भाण्डारकर, तिलक और राधाकृष्णन् ने धर्म पर दार्शनिक मीमांसा की है।

स्वामी दयानन्द की विचारधारा में हिन्दुधर्म के सुधार की सामग्री तो बहुत है, पर धर्म-तत्त्व की बुद्धिवादी सूक्ष्म परीक्षा नहीं है। विवेकानन्द रानाडे-भाण्डारकर आदि के विचार बिखरे हुए हैं। राधाकृष्णन ने भावुकता का सहारा लिया है, विचारों की ऐतिहासिक मीमांसा उसमें नहीं है। तिलक ने व्यवस्थित विचार किया है। उनका मन्तव्य है कि—आत्मा और अनात्मा के विवेक से युक्त बुद्धि ही धर्म निर्णय करती है। जो परमात्मा को पहिचानता है, वही स्थितप्रज्ञ पुरुष है, वही धर्म-निर्णय कर सकता है। स्थितप्रज्ञ यह समझता है कि अपनी आत्मा ही दूसरे में है। इस लिए वह जो अपने लिए श्रेयस्कर है उसी को दूसरों के लिए श्रेयस्कर समझता है।

पाश्चात्य धर्ममीमांसकों का भी यहाँ मैं वर्णन करूँगा। विलियम जेम्स धर्म के दो विभाग करता है, एक संगठित धर्म दूसरा वैयक्तिक धर्म। उसके कथन का सारांश है कि मानव अनुभव दो प्रकार का होता है—लौकिक और अलौकिक। लौकिक अनुभव का आलम्बन दृश्य बाह्य विश्व है और अलौकिक का भीतरी विश्व। ये अनुभव विचित्र और अनेक होते हैं। इनमें यह विचित्रता तथा अनेकता दो कारणों से आती है—एक मन की परिस्थितियों की तारतम्यता से, दूसरे उस भीतरी विश्व के आविर्भाव से। यह भीतरी विश्व बाह्य विश्व से अधिक विशाल और सत्य है, बाह्य विश्व के परिवर्तनों की कारणभूत जो चैतन्य शक्ति है उसी का यह अगाध संचय है, उसी को देव-ब्रह्म कहते हैं। वह महान् है। उसके साथ इस तुच्छ जगत् का और जीवन का मेल करना—एक दूसरे में लय करना ही परम ध्येय है, वही निःश्रेयस है। इसी एकात्मानुभूति से उच्चतर मानसिक सुख प्राप्त होता है, और मन चिर-शान्ति और शाश्वत समाधि में मग्न हो जाता है।

जेम्स का यह युक्तिवाद एक प्रकार का फलवाद Pragmatism है। इसमें परिणाम से—फल से, ज्ञान की सत्यता सिद्ध होती है। इस फलवाद का आश्रय लेकर जेम्स बुद्धिवादियों के तर्क का खण्डन करता है। वह भावनाओं पर ही बल देता है। वह कहता है कि यदि यह मान लिया जाय कि मृत्यु के बाद हमारे सारे वैयक्तिक अनुभव समाप्त हो जाते हैं तो हमारी शाश्वत आनन्द की—निःश्रेयस की आशा नष्ट हो जाती है। इसके विपरीत आध्यात्मवाद को मानने से जीव को ईश्वर का आश्रय मिलता है। जेम्स इस प्रकार मिथ्या कल्पना की उपयोगिता स्वीकार करता है।

पण्डित फायरबाख़, काण्ट, हेगल, कान्टे, श्लीरमाख़र, जेम्स, जान लुई आदि दार्शनिकों की मूलभूत कल्पनाओं की आलोचना करता हुआ कहता है—कि संसार की प्रचलित धर्म कल्पनाएँ मनुष्य की मन गढ़न्त हैं। वे किसी अलौकिक विभूति से पैदा नहीं हुई। वासना और भावना से कल्पना का जन्म होता है, कल्पना ही धर्म की सारी जमा पूँजी है।

भावना और वासना की वास्तविक पूर्ति विज्ञान और तत्त्वज्ञान से होती है। जब तक उनकी पूर्ति नहीं होगी—मन पच्छन्न और बद्ध रहता है, और भ्रान्त कल्पनाओं की सृष्टि करता है। इन्हीं झूठी कल्पनाओं से एक आभासमय विश्व का निर्माण होता है, इसी कल्पित विश्व से सम्बन्ध रखने का प्रयत्न ही धर्म है।

यह धार्मिक मध्य जगत् चमत्कारों से परिपूर्ण और संकल्पमात्र से निर्माण हो जाने वाला है। उसमें अमरत्व, शाश्वत शान्ति, नित्यानन्द, मुक्ति, परमेश्वर, दिव्यशक्तियाँ आदि सभी सम्भव और असम्भव वस्तु हैं। जो नहीं हैं परन्तु चाहिए, वह सब इस कल्पना जगत् में तुरन्त हो जाता है। धर्म मनुष्य का ध्येयवाद है। इसमें मानवीय जीवन की वैयक्तिक व्यवहारिक कमियाँ भर डालने का पूरा प्रयत्न रहता है। यह ध्येयवाद ही भ्रान्त मन में 'देववाद' बन जाता है और धर्म में ईश्वर जन्म लेता है। वह ईश्वर मानवीय गुणों में आदर्श है। ज्ञान, कला, नीति, मांगल्य और सौन्दर्य की अतिशयोक्ति का समुच्चय है। ज्ञान, आनन्द और सत्य की पूर्ण मूर्ति ही उपनिषदों का 'ब्रह्म' है। ईसाइयों का परमेश्वर पितृत्व की चरम सीमा है।

धर्म का अलौकिक दिव्य रूप भोले मन का काव्यमय पागलपन है, जो सत्य नियमों के अज्ञान से उत्पन्न हुआ है। यह धर्म-स्वप्न ही दार्शनिक-तत्त्व है, जिसमें दिमाग़ी कसरत को छोड़ हाथ कुछ भी नहीं लगता। इन सब बातों पर विचार करके जान लुई कहता है—'प्रेम ही सच्चा धर्म है, धर्म को स्वर्ग से भूलोक पर लाना ही सच्चा तत्त्वज्ञान है। फायरबाख कहता है—विज्ञान और तत्त्वज्ञान के आश्रय से ही मनुष्य जाति का जीवन यशस्वी बन सकता है। इसे वह मानववाद—**Scientific humanism** कहता है।

'विज्ञान और तत्त्वज्ञान' पर बहुत विचार किया गया है। परन्तु ज्यों-ज्यों विज्ञान का विकास होता जाता है तत्त्वज्ञान समाप्त होता जाता है। विज्ञान

जब वस्तुओं का पर्यालोचन कर उनका संकलित और सुसंगत विवरण बताने लगता है तो केवल कल्पना के सहारे खड़ी तत्त्वज्ञान की बालू की दीवार ढह जाती है। तत्त्वज्ञान यदि अपने को विज्ञान से भी बढ़कर समझता है तो संसार की आँखों में धूल झोंकता है। अफ्रीका के आशिकेज़ार इन दार्शनिकों ने जो तत्त्वज्ञान की उधेड़बुन की—तो मनुष्य की बुद्धि को धर्म से दूर लेजाकर जड़वाद पर ला पटका। उसकी चर्चा भी मजेदार है।

संसार के बड़े से बड़े दार्शनिकों ने तत्त्वज्ञान सम्बन्धी सबसे महान् जो प्रश्न उठाया है, वह है—'ज्ञान' और 'ज्ञेय' में क्या सम्बन्ध है। शंकराचार्य ने अपने शारीर भाष्य में और वात्स्यायन मुनि ने न्यायभाष्य की प्रस्तावना में इसी प्रश्न को महत्त्व दिया है।

'सामने पीपल का पेड़ है'। यह 'पीपल का पेड़' ज्ञेय है। और वह 'सामने है' यह ज्ञान है। अब कुछ तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि 'ज्ञान' सत्य है परन्तु 'ज्ञेय' असत्य है। ज्ञेय का ज्ञान से पृथक कोई अस्तित्व ही नहीं है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति जो सातवीं शताब्दी में हुए—यही मानते थे। बर्कले, ह्यूम, कैन्ट और हेगल आदि पाश्चात्य दार्शनिक भी यही कहते हैं। बर्कले कहता है—जागृति भी एक लम्बा स्वप्न है, आपने स्वप्न में हाथी देखा। 'हाथी देखा' यह तो सत्य है, परन्तु 'हाथी' असत्य है। मनोवृत्तियाँ States of mind. सही हैं; पर उनके विषय मिथ्या हैं। यह बर्कले का कथन है। ह्यूम कहता है कि स्वप्न देखा यह तो ठीक है, परन्तु जिस वस्तु को देखा वह है इसका प्रमाण क्या? संसार के नानापदार्थ दीखते तो अवश्य हैं—पर वे हैं ही, इसका क्या प्रमाण है? ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के बाहर है या नहीं? यह सन्देहास्पद है। इस विचारसारिणी को अज्ञेयवाद—Agnosticism के नाम से कहा गया है।

कैन्ट ने जगत् के दो विभाग किए हैं, एक वास्तविक जगत्–The thing in itself और दूसरा बुद्धिगम्य जगत्—Phenamenon। वास्तव जगत् को वह परमार्थ वस्तु, सत्य—Objective reality कहता है।

उसका यह भी कहना है कि वह मनुष्य के काबू के बाहर का है, बुद्धिगम्य जगत् को वह पदार्थ का झूठा दिखावा कहता है।

परन्तु 'जड़वाद' कैन्ट के इस वक्तव्य को स्वीकार नहीं करता। बौद्धों में एक वैभाषिक पक्ष है। इस पक्ष के आचार्यों का कहना है कि बाहरी बातों की साक्षात् जानकारी भले ही सम्भव न हो, तो भी अन्तःकरण में वृत्ति के रूप में उनके जो परिणाम घटित होते हैं, उन पर से बाहरी बातों के अस्तित्व का भी अनुमान हो सकता है। हेगल कैन्ट का पूरा विरोधी है, वह कहता है—यह कहना निरर्थक है, कि जिसका विषय ही नहीं, उसका ज्ञान होता है। परन्तु विज्ञान कहता है यह सब बेकार का झूठा वितण्डावाद है। इन जानकार तत्त्वदर्शियों की सारी जानकारी का संसार पागलों का संसार है। संसार का अस्तित्व है और उसका सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

कुछ तत्त्वदर्शी कहते हैं—सत्य दो प्रकार के हैं? एक 'ज्ञात सत्य' दूसरा 'अज्ञात-सत्य' अर्थात् एक वह जगत् जिसका पता चल गया है और एक जिसका अभी तक पता नहीं लग पाया। परन्तु जिसका पता नहीं लगा है उसे प्रयत्न से जाना जा सकता है। क्योंकि अज्ञात पदार्थ ज्ञात पदार्थों से जुड़े हुए हैं। यह जड़वादी दार्शनिकों का मत है। पर कुछ तत्त्वदर्शी कहते हैं कि जगत् की जड़ में एक शाश्वत सत्य है। जिसका पता 'ब्रह्मविद्या' से लगता है। वेदान्त, उपनिषद् और हेगल ब्रह्मविद्या को सम्पूर्ण सत्य कहते हैं। परन्तु वेदान्तियों का और हेगल का यह सम्पूर्ण सत्य एक खयाली पुलाव है। जीवन से तो उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत होता। शंकर का कहना है कि सम्पूर्ण सत्य को जानने पर सारी प्रतिक्रियाएँ स्वयं बन्द हो जाती हैं। परन्तु आज तक ये प्रतिक्रियाएँ बन्द नहीं हुईं।

ज्ञान-वस्तु पर निर्भर है। ज्ञान और वस्तु के बीच का तारतम्य यदि ठीक है तो ज्ञान सत्य है, नहीं तो झूठ। प्रमाणभूत ज्ञान ही यथार्थ है। न्यायदर्शन और पूर्व मीमांसा में ज्ञान को जो 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' कहा है,

उसका मतलब यही है कि इन्द्रिय और अर्थ का निकट सम्पर्क ही प्रत्यक्ष अनुभव है।

अच्छा इन्द्रिय क्या है? शरीर में जो ज्ञान-तन्तु है वही इन्द्रिय है। आँख-नाक-कान-त्वचा-जिह्वा के केन्द्र-स्थानों में जो ज्ञान तन्तु हैं, उन्हीं से ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान तन्तुओं का पदार्थ के साथ संबंध-संयोग होते ही प्रत्यक्ष-प्रतीति होती है। प्रत्यक्ष-प्रतीति ही सत्यज्ञान है।

ज्ञान और वस्तु अविभाज्य हैं। इसका अर्थ हुआ 'विचार' और 'विषय' में मेल है। यही ज्ञानवाद सिद्धांत Theoruy of knowledge है। यह सिद्धांत कैन्ट के अज्ञेयवाद को काटता है। और यही जड़वाद का मूलाधार है। 'जड़' का अभिप्राय उस पदार्थ से है, जो ज्ञान रूप नहीं, जड़ का प्रतियोगी शब्द चेतन है। चेतन का अर्थ है जानने वाला, ज्ञान रूप। अचेतन का अभिप्राय है जड़ पदार्थ। जड़वादी कहते हैं कि पहले जो जड़ पदार्थ था, अजीव था, वही कालान्तर में चेतन हुआ, सजीव हुआ। जीव या चेतन जड़ पदार्थ ही की दूसरी स्थिति का रूप है। परन्तु यह 'चेतन' शाश्वत नहीं है, न सर्वव्यापी है, न सब वस्तुओं के मूल में है, वह एक अस्थायी कार्यरूप, कारणद्वारा बनी हुई, देशकाल से घिरी हुई सीमित वस्तु है। द्रव्य पहिले अचेतन रहता है। गरमी, बिजली, वायुरूप, द्रवरूप और घनरूप, यह द्रव्य के चेतन रूप में आने के प्रथम की अवस्था है। अभिप्राय यह कि अचेतन द्रव्य ही विकसित होकर जीव या चेतन रूप धारण करता है। द्रव्य ही में जीवधर्म प्रकट होते हैं। जड़ पदार्थ ही जीव बन जाता है।

आप किसी भी जीव-पिंड की जाँच कीजिए। आप देखेंगे कि वह भिन्न-भिन्न सूक्ष्म रचना से युक्त जड़ द्रव्यों का मेल है। उसमें मूलतत्त्व Elements भी हैं और संयुक्त द्रव्य Cheimcal Compounds भी। इन मूलतत्त्वों और संयुक्त द्रव्यों से बनी हुई जीव पेशियाँ Cells अपनी रचना में एक दूसरे से उलझी हुई हैं। इनके बीच ज्ञान-तन्तु की संस्था है, यह

संस्था ही चेतन या मन है। इस प्रकार जिसे शरीर कहा जाता है, वही मन है, वही आत्मा है। शरीर और आत्मा एक ही वस्तु है। आत्मा शरीर से पृथक नहीं। इस प्रकार जब शरीर और आत्मा एक है, जब शरीर के नाश के बाद आत्मा का भी नाश हो जाता है। इससे पूर्व जन्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त ग़लत प्रमाणित होता है। स्वर्ग नर्क भी ख़त्म हो जाते हैं। यह जड़वादियों का कहना है।

परन्तु चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय तत्त्ववेत्ता 'आत्मा' या 'जीव' को देह से भिन्न मानते हैं। इसके समर्थन में वे दो प्रकार के प्रमाण उपस्थित करते हैं—एक तर्क का दूसरा 'शब्द' का। शब्द प्रमाण दो प्रकार का है, एक धर्म-ग्रन्थों का दूसरा अलौकिक व्यक्तियों के अनुभव का। तार्किक प्रमाण के संबंध में शंकराचार्य, बृहदारण्यक-भाष्य की प्रस्तावना में स्वीकार करते हैं कि आत्मा को सिद्ध करने वाला तार्किक प्रमाण लँगड़ा है। शब्द प्रमाण ही उसका पूरक है। आत्मवादी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि प्रत्येक जन 'मैं हूँ' यह अनुभव करता है, इससे पता लगा है कि देह से पृथक 'मैं' भिन्न वस्तु है। वे कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रिय और उसके अनुभव भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के विषयों का अनुभव एक केन्द्र में होता है। वह केन्द्रस्थ ही कोई 'मैं' है। वही सब इन्द्रियों का अनुभव लेने वाला है। गौतम अपने न्याय दर्शन में आत्मा को प्रमाणित करने के लिए जन्मधारियों की स्वाभाविक अभिरुचि की ओर संकेत करता है। वह कहता है कि पूर्व-जन्म की वासनाएँ इस जन्म में विकसित होती हैं। परन्तु इस तर्क का उत्तर अब अनुवंशशास्त्र ने दे दिया है। वह प्रमाणित करता है कि माँ-बाप जिस वंश के होते हैं उसका स्वभाव बालक में आता है, पूर्व जन्म के संस्कार की कोई बात ही नहीं है।

दूसरा तर्क है कि कुछ लोग जन्म ही से दीन-दरिद्र होते हैं, कुछ जन्म ही से सम्पन्न, यदि हम यह न कहें कि पूर्व जन्म के भले बुरे कर्मों ही से ऐसा हुआ है, तो इस अच्छी बुरी स्थिति का कारण क्या है? क्यों बहुत से

भले लोग कष्ट भोगते हैं, दुष्ट मौज-मजा करते हैं ? किए हुए कर्म का फल नहीं मिलता है और न किए हुए का फल मिलता है, यह क्या बात है ? परन्तु इन सामाजिक विषयों का आध्यात्मवाद से कुछ भी संबंध नहीं है, यह हमारा समाजशास्त्र बता सकता है ।

आत्मा के संबंध में शब्द प्रमाण—वेद, पुराण, गीता, बायबिल, कुरान आदि धर्म ग्रन्थों में है। महात्माओं और अलौकिक पुरुषों के अनुभव भी है । धर्म ग्रन्थ भी अलौकिक माने जाते हैं, क्योंकि लोग उन्हें परंपरा से मानते आए हैं । जनता की उन पर अगाध श्रद्धा है । आत्मा के दर्शन करने के लिए दीर्घ श्रद्धा, दीर्घ चिन्तन, दीर्घ उपासना-ध्यान की आवश्यकता होती है । तब एक भावना मन में जन्म लेती है, भावना के अभ्यास से ही वस्तु के न रहने पर भी उसका अनुभव हो जाता है । मानस-शास्त्र और मनो-विकृति शास्त्र इस संबंध में बहुत कुछ बता सकते हैं । वास्तव में महात्माओं का आत्मा का साक्षात्कार एक मानसिक विकृति है। उसे एक दयनीय पागलपन को छोड़ और कुछ नहीं कहा जा सकता ।

१०

'विज्ञान' मनुष्य का मुक्तिदाता या मृत्युदूत

विज्ञान कल्पना पर आधारित नहीं है। वह वस्तु को परीक्षा और अनुभव की कसौटी पर कसकर अपना निर्णय देता है। ज्यों-ज्यों विज्ञान का विकास होता जाता है, त्यों त्यों तत्त्वज्ञान और दार्शनिक आशिकमिजाजी दुनियाँ की नज़र में बेवकूफी प्रमाणित होती जाती है। पहिले भी कभी यह तत्त्वज्ञान मनुष्य के जीवन का सहारा नहीं बना और अब तो हमें इसकी आवश्यकता ही नहीं है। इसने मनुष्य जाति को नपुंसक, सुस्त और प्रगति का शत्रु बना दिया है। विज्ञान ने इसकी कब्र खोद दी है, अब कसर इतनी ही है कि इस तत्व-ज्ञान के मुर्दे को सावधानी से दफना दिया जाय।

विज्ञान जब प्रत्येक क्षेत्र में आने वाले विषयों का विस्तार के साथ पर्यालोचन करके उनका रहस्य हम पर प्रकट करता है। अपने क्षेत्र की वर्णनीय वस्तुओं का संकलित और सुसंगति-मूलक ब्यौरा बताता है—तब भला कल्पना के सहारे घट-पट की खटपट करने वाला दर्शनशास्त्र और तत्त्व-दर्शन किस काम आ सकता है। अब इस बूढ़े बैल को तो छुट्टी ही देनी चाहिए।

विज्ञान ने ऊँची आवाज़ में पुकार कर कहा है कि यह जगत् सत्य है। उसका पृथक् अस्तित्व है, और इसका सहीह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उसने दूरबीन लगाकर—नए-नए नक्षत्रों की खोज की है। पदार्थ विज्ञना और जीवशास्त्र के आचार्यों ने सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों की सहायता से जीवनदाता और प्राणसंहारक सूक्ष्म जन्तुओं का पता लगाया है। गणित

शास्त्र सम्पूर्ण परिमाण का शास्त्र बन गया है, विज्ञान का अभिप्राय है सत्य के खोजी ईमानदार और परिश्रमी अन्वेषकों के परिश्रम का अमर फल। रसायन शास्त्र नए-नए संयुक्त द्रव्यों का पता लगाता चला जा रहा है। पदार्थ विज्ञान, रसायन-शास्त्र, इन्द्रिय-विज्ञान, और जीवन-शास्त्र ने इतनी उन्नति कर ली है कि जीव-पिण्ड में वर्तमान, बहुत-सी परंपरा से चली आती हुई, गूढ़ बातों का सही पता लगा लिया गया है। उसने जान लिया है कि सजीव देह पिण्ड अपने चारों ओर की अजीव सृष्टि से ही उत्पन्न हुआ और विकसित हुआ है। वह अपने चारों ओर की परिस्थिति पर निर्भर है। जीव-पिण्ड उस परिस्थिति का ही परिणाम है। डेढ़ सौ अंश से कम तथा शून्य से अधिक उष्णता में ही इसका अस्तित्व रह सकता है। पृथ्वी से पाँच मील की अपेक्षा अधिक ऊँचाई के वातावरण में वह जीवित नहीं रह सकता। जिस परिस्थिति में कार्बन प्रधान प्रोटीन उत्पन्न नहीं हो सकता—उसमें इसका अस्तित्व असंभव है। जलाने वाली उष्णता में तो कोई जीव-पिण्ड टिक ही नहीं सकता। विशेष जाति के जीव-पिण्ड विशिष्ट भौगोलिक परिस्थिति में ही उत्पन्न होते हैं, तथा वृद्धि पाते हैं। और ज्यों ही उन भौगोलिक परिस्थितियों का अंत होता है, इनकी जाति भी नष्ट हो जाती हैं। भूगर्भ-शास्त्रियों ने पृथ्वी के ऊपर जो कठिन और नर्म तह युग-युग से जमती गई हैं उन्हें छानबीन करके देखा है, उन्हें पता लगा है कि भिन्न २ जाति के जीवित प्राणी भिन्न २ स्तरों में रहते थे। समय २ पर प्रलय हुए और सब कुछ उलट-पुलट होकर नवीन भूमि का स्तर ऊपर आ गया। उस पर नवीन प्राणी ने जन्म लिया। युग २ से बने ये भूमि-स्तर वनस्पति-खनिज और प्राणीमात्र के विकास और विनाश की प्रकृत इतिहास हैं।

जीव-वैज्ञानिकों ने देखा कि जीव-पिण्ड की रचना अजीव द्रव्यों से ही हो रही है। उसका धारण-पोषण सब भौतिक द्रव्यों से होता है। सब सजीव प्राणी, अन्न, जल, वनस्पति, मांस, वायु, आदि का आहार पाकर जीवित रहते हैं, पुष्ट होते हैं। अभाव में मर जाते हैं। विषों का, रोगों का, औषधि

का, अन्न का जीवात्मा पर सीधा प्रभाव पड़ता है. तब वह जीवात्मा भौतिक ही तो हुआ ? धैर्य, कल्पना, स्मृति, विचार, काम, क्रोध, उत्साह आदि विकार शरीर धर्म ही हैं। थाइराइड और पिच्युएटरी ग्रन्थियों के कार्य और आँतों में उत्पन्न हार्मोन यदि कम हो जाँय तो इन शरीर धर्मों पर उसका प्रभाव पड़ेगा। यदि यह हार्मोन उचित परिमाण में शरीर में उत्पन्न न हों तो निरुत्साह, चिड़चिड़ापन, आदि उत्पन्न हो जाते हैं। स्मरणशक्ति कम हो जाती है। तर्कशक्ति कुण्ठित हो जाती है, विचारशक्ति गड़बड़ा जाती है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थियों से उत्पन्न हार्मोन का कार्य शरीर के भीतर भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के कामों में सहायता पहुँचाना है। इस शरीर-रचना-विज्ञान ने यह दार्शनिक सिद्धान्त झूठा प्रमाणित कर दिया कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, विचार आदि देह धर्म नहीं हैं, उससे भिन्न आत्मा के—जीव के धर्म हैं।

बुद्धि और ज्ञान का विकास विविध गुणों से विकसित शरीर रचना पर निर्भर है। शरीर में मस्तिष्क की रचना जितनी कम विकसित होती है उतना ही ज्ञान का कम विकास होता है। सम्पूर्ण मनोवृत्तियाँ ज्ञानेन्द्रियों पर ही आश्रित हैं। कभी ऐसा भी समय था, जब संसार में जीव-पिण्ड थे ही नहीं। अन्धी निसर्ग-शक्ति के संघर्ष में जीव-बीज तैयार हुए। और वे संहार की अनेक परम्पराओं में से, बचते-बचाते जीवित रहे। करोड़ों-अरबों जीव-पिण्डों में कोई एक जीव-पिण्ड ही जीवित रहता है। एक यही उदाहरण यहाँ देना काफी होगा कि—एक बार सम्भोग करने में मनुष्य के वीर्य में जितने जीव-कीट निकलते हैं, उनसे सारे संसार भर की स्त्रियाँ गर्भवती हो सकती हैं। यही बात अन्य प्राणियों की भी है। कुछ ऐसे भी द्रव्य हैं जो अजीव भी हैं और सजीव भी। वे जीवित और जीव-रहित दो वस्तुओं के मध्य की कड़ी हैं। रोग कीटाणुओं का नाश करने वाले जन्तु विरोधी द्रव्य—Bacteriophage तथा सजीव शरीर व वनस्पतियों को बाधा देने वाले विषाक्त द्रव्य Virus जीव और अजीव को जोड़ने वाली कड़ी हैं। ये स्वयं भी रासायनिक संयुक्त द्रव्य हैं। 'प्रोटीन' और उसके साथ संयुक्त 'न्युक्लिक

एसिड' को मिलाने से जो 'न्युक्लुओ-प्रोटीन' संगठित होता है—वही 'जीव-पिण्ड है। वनस्पति पर या जीवित शरीर पर जहाँ उसका एक कण पड़ा कि उनकी संख्या अनन्त हो जाती है। यही जननशक्ति का गुप्त रहस्य है।

अब वैज्ञानिक इस तत्व पर पहुँच गए हैं कि मानव-शरीर जड़-द्रव्यों से बनी हुई एक उलझी हुई रचना है। पदार्थ-विज्ञान और रसायन-विद्या ने शरीर-रचना सम्बन्धी बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझा दी हैं, शरीर एक सजीव-यन्त्र है, उसकी सारी प्रक्रियाएँ रासायनिक द्रव्यों के नियमों के आधार पर हैं। स्नायु रासायनिक द्रव्यों के परिणाम से ठहराया जा सकता है। शरीर एक परिपूर्ण रसायनशाला है, उसमें पित्ताशय में Pancrea से Insulin तैयार होता है, तथा यकृत ग्रन्थि में हेमोग्लोबीन, ग्लुकोज, हार्मोन द्रव्य तैयार होते हैं। मस्तिष्क-ज्ञान तन्तु और क्रियातन्तुओं का जाल सारे शरीर में फैला हुआ है। हृदय एक पंप है, जो रक्त की अनवरत गति को प्रवाहित करता है। आँख एक केमरा है। सब मिलाकर शरीर एक आत्म निर्भर परिपूर्ण चलता फिरता यन्त्र है। जब तक रक्त के रासायनिक संयुक्त द्रव्यों का काम ठीक-ठीक चलता है, कार्बनडायाक्साइड तथा प्राणवायु की ठीक परिपूर्णता रहती है। फेफड़े का काम ठीक रखने के लिए मूत्र पिंड के मध्यगत रासायनिक पदार्थों की उत्पत्ति ठीक-ठीक होती रहती है। मूत्रपिंड की क्रिया को ठीक-ठीक चलाने के लिए पिच्युएटरी ग्रन्थि ठीक परिमाण में पिट्रिसिन तैयार करती है तब तक देहयन्त्र धूम-धाम से चलता रहेगा।

प्राणी विज्ञान की भाँति ही भौतिक विज्ञान ने भी मनुष्य को ज्ञान का आलोक दिया था। जब मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क का विकास एकी-भूत हुआ तो कला और विज्ञान का गठ जोड़ा हो गया—इससे संसार परम सुन्दर और सुखकर हो गया। इसका प्रारंभ हुआ १४४१ में; जब छापने की कल का आविष्कार हुआ। उस समय तक अतीतकाल कब्र में दबा पड़ा था। मानव जाति के होंठ सिले पड़े थे। विचार सो रहे थे चिर निद्रा में। प्रेस ने विचारों को पर लगा दिए—वे उड़ चले। आज की पीढ़ी के लिए

वे पैतृक सम्पत्ति बन गए हैं। जिनसे आज का मानव सम्पन्न है। जब मनुष्य ने पढ़ना शुरू किया तो सोचना और तर्क करना भी सीखा—और वह प्रगति के मार्ग पर बढ़ा चला गया। बारूद के आविष्कार ने सामंती युग को समाप्त कर दिया। शरीर बल के साथ—साहस-सूझ-बूझ और स्नायुबल ने स्थान ग्रहण किया। मनुष्य की एक-एक घटना की जानकारी बढ़ती गई। अन्धविश्वास से उसका पल्ला छूटता गया। स्वर्ग के देवता दुम दबाकर भागने लगे। 'मशीन' स्वयं अपनी शिक्षक बनी। 'यन्त्र' विज्ञान और प्रगति के अग्रदूत बन गए। प्रगति के ये नेता—जिन्होंने विज्ञान और कला को एक करके मनुष्य जीवन को ऐश्वर्य प्रदान किया—धन्यवाद के पात्र हैं। इनमें हम साहसिक नाविक कोलम्बस और मैगेलन को, गेलीलियो और कापर-निकल को, केपलर और उसर टीस को श्रद्धाञ्जलि भेंट करेंगे। लॉक ह्यूम, बेकन, गालविनी, फ्रेन्कलिन और मोर्स को प्रणाम करेंगे, जिन्होंने विचार और बिजली का प्रकाश हमें दिया। क्रोम्बरन और अर्कराइट को जिन्होंने करघों और तकुओं का आविष्कार किया। एडीसन को जिसने सारे संसार को सभ्य और सुन्दर बनाने में जीवन गलाया धन्यवाद देना चाहिए। इन महा पुरुषों ने विज्ञान को मनुष्य का मुक्तिदूत बना दिया। परन्तु बुरा हो राष्ट्रवाद और देशभक्ति का। देश भक्ति और राष्ट्रवाद के उदय होते ही सारे कलाकार, सारे वैज्ञानिक देश भक्तों और राष्ट्रवादियों के गुलाम बन गए। जन कल्याण की भावना उनमें से दूर हो गई। मनुष्य का प्यार उनके हृदय से सूख गया। वे इन हत्यारे राष्ट्रवादियों के चक्कर में फँसकर नरघाती मार्ग पर चल पड़े। सुन्दर-सुखद-आश्चर्य जनक व्योम विहारी वायुयानों का अभी आविष्कार ही हुआ था। मनुष्य अभी दिल खोलकर उनकी सवारी का आनन्द ले भी न पाए थे कि इन गुनहगार हत्यारे राष्ट्रवादियों ने उन्हें मशीनगनों और बमों से सुसज्जित कर दिया। और उन्होंने दुनिया के निर्दोष नर नारियों पर, नगरों पर, आकाश से जो कहर बर्षाया है—जो विध्वंस लीला की है, जो नर-हत्या की है, उस पर विचार करके आज के

इन हत्यारों की भावी सन्तान को अपने इन बाप-दादों के इस खूनी काम के लिए शर्म से मुँह छिपाना दूभर हो जायगा।

पूँजीवादियों ने राष्ट्रवादियों के भी कान काट लिए। ये राष्ट्रवादी लोग सामन्तशाही तरीके पर चलकर कंगले हो रहे थे। विज्ञान को खरीदने योग्य धन इनके पास न जुटता था। पूँजीवादियों ने इनसे गठजोड़ा करके अपना लूट का माल इनको अर्पण कर दिया। फिर तो एक दिन विज्ञान ने मृत्यु दूत का रूप धारण कर जापान के दो सम्पन्न नगरों को—नर नारी आबाल वृद्ध समेत बात की बात में भस्मीभूत कर दिया। गत तीन सौ वर्षों में विज्ञान ने योरोप को जो विभूति दी, उस सब का जैसे एक बारगी ही हिसाब किताब बेबाक हो गया। यह महा नरमेध बुकुल्य योरोप के राष्ट्रवादियों के लिए मन भावना था। अतः वे तो खुश हुए ही—इनकी दासता की बेड़ियों में बँधा एशिया भी इन हत्यारों पर लानत न भेज सका। इनके नाम पर 'थूः' न कर सका।

परन्तु अब योरोप के सारे पूँजीवादी राष्ट्रों की कब्र खुद चुकी है। वे तपेदिक की रोगी की भाँति मृत्यु की प्रतीक्षा में दिन-दिन क्षीण होते जा रहे हैं। उनका एक दिन नाश होगा। उनका पाप, नर-हत्या, नरबध, मानव शत्रुता उन्हें ही खा जायगी। वे कलाकार साहित्यिक जिन्होंने इन खूनियों के गीत गाए हैं, और वे वैज्ञानिक जिन्होंने उनका दास बनकर विज्ञान को—जो मनुष्यों का मुक्तिदाता था, मृत्यु-दूत बनाया है, युग-युग तक आगे आने वाली पीढ़ियों द्वारा कोसे जाएँगे। अभी वे खुशी से मक्खन टोस्ट खा लें, पर आगे आने वाली पीढ़ी हरसाल उत्सव मनाकर उनके मुँह काले करके उनके पुतलों को नगर के चौराहों पर जलाया करेगी। वे काले झण्डे फहराएगी, जिन पर लिखा होगा—ये हत्यारों के गुलाम थे, इन्होंने सिर्फ टोस्ट मक्खन के लालच में अपनी कला, अपना विज्ञान मनुष्य जाति के कट्टर शत्रु राष्ट्रपंथियों के हाथ बेच-डाला था।

कुछ समय पहिले लण्डन के 'एसोसियेटेड' प्रेस के निश्शान्तों ने

आज से पचास वर्ष बाद आने वाली दुनिया की सिद्धियों की भविष्यद्वाणी की थी कि भूगोल और खगोल की खतरनाक दूरियां तब राकेटबान में सिमट आएँगी। मनुष्य का बनाया हुआ पहिला तारा पृथ्वी की परिक्रमा करता रहेगा। टेलीवीज़न सारी दूरियों को शून्य करके रंग, सुगन्ध, आकार-प्रकार के साथ सम्पूर्ण वस्तुओं को हमारे सामने प्रस्तुत कर देगा। इन सारी अलब्धियों को भोग करने के लिए मनुष्य दीर्घायुष्य हो जायगा। श्रमिकों को सप्ताह में केवल कुछ ही घन्टे काम करके, जीवन के उच्च स्तर आनन्दों को भोगने की पूरी निश्चिन्तता और अवकाश प्राप्त हो जायगा। धन, धान्य, वस्तु सम्पदा इतनी विपुल हो जायगी कि मानव के सामाजिक-आर्थिक संघर्ष अनिवार्य रूप से आप ही आप सुलझ जाएँगे।

पचास वर्ष बहुत दूर है मैं आज ही सुन रहा हूँ कि न्यूयार्क से सैन्फ्रान्सिसकी के बीच की लगभग १० हज़ार मील की दूरी को केवल एक घन्टे में ही पार करनेवाला राकेट बन चुका है। यह राकेट ही अन्ततः अपनी गति के प्रचण्डवेग से अवकाश पर मनुष्य की अनिवार्य और चरम प्रभुता की स्थापना करने को काफी है। परन्तु इस क्षण यह नहीं कहा जा सकता कि गति का यह प्रचण्ड वेग मनुष्य को समय का स्वामी बनाएगा या उसका सत्यानाश करेगा। यदि यह आविष्कार भी विश्व के युद्ध दानवों के हाथ में पहुँच गया, और समय रहते मनुष्य ने राष्ट्रीयता और उनके प्रजादियों को अपने में से नष्ट नहीं कर दिया तो आगामी विश्वयुद्ध में इस प्रकार के सत्यानाशी राकेट अनेक संक्रामक रोगों के कीटाणुओं की बौछार करके एक बारगी ही असंख्य जनपद को मौत के मुँह में ढकेल देंगे।

टेलीफोन-टेलीवीजन से दूरी की बाधा को तोड़कर मनुष्य केवल मनुष्य की आवाज़ ही नहीं सुन सकते—अपितु वे परस्पर एक दूसरे को देख भी सकते हैं। परन्तु मिलने के ऐसे सुलभ साधनों के प्रस्तुत होते हुए भी मनुष्यों के बीच हार्दिक और आत्मिक मिलन नहीं होता है। दुनिया छोटी ही रही है, देश एक दूसरे के निकट आ रहे हैं परन्तु मनुष्य-मनुष्य से दूर

हटता जा रहा है। सिनेमा-नाटक, क्लब, थियेटर यथा खेलकूद के मैदानों में, होटलों में, विश्वविद्यालयों में सभाओं में मनुष्य बहुत भारी संख्या में एकत्र होते हैं, पहिले कभी ऐसा नहीं हुआ था; इससे मनुष्य सामूहिक जीवन की ओर अग्रसर हो रहा है—परन्तु क्या मनुष्यों का यह मिलन मानवता के लिए वरदान बन सकता है? मैं तो देखता हूँ कि इस प्रकार कोरी भीड़ बनाकर मनुष्य उस भीड़ में अपने को दबोच रहा है। मिलन नहीं रहा। इस मिलन में मनुष्य का सहृदयता कहाँ है, मिलने का चाव कहाँ है? मनुष्य की उदार बुद्धि कहाँ है? नहीं है। कहीं नहीं है। इसी से जब मनुष्य इस भीड़ से हटकर घर लौटता है तो वह समझता है—किसी से उसकी मुलाकात नहीं हुई। जान बची, परेशानी-थकान और मुसीबत दूर हुई। आज का यह मनुष्य जो बहुत ही सुविधाओं से घिरा हुआ है—उस यान्त्रिक सभ्यता का एक निर्जीव पुर्जा है जिसकी दासता करने—रोज़ी कमाने के लिए वह बाध्य है।

———

११

'स्त्री' चलती फिरती दौलत

बुद्ध ने 'स्त्री' को परिग्रह कहा है। वह सब उपभोग्य वस्तुओं को परिग्रह मानते हैं। इसलिए 'अपरिग्रह' के दायरे में उन्होंने धन-दौलत, दास-दासी, जमीन आदि उपभोग की सामग्री को त्यागने के साथ स्त्री को त्यागने का भी आदेश दिया है। बौद्धों की भाँति जैन भी स्त्री परिग्रह को सबसे बड़ा परिग्रह मानते थे। इसका यह कारण स्पष्ट है कि स्त्री के घर में आते ही उसके पीछे घर-बार, नौकर-चाकर, बाग-बगीचे आदि सारे सरंजाम आ जुटते हैं या जुटाने पड़ते हैं। इसलिए जैनों और बौद्धों ने स्त्री परिग्रह को सबसे बड़ा परिग्रह मान स्त्री से सब प्रकार का सम्बन्ध रखना संघ के नियमों में सबसे बड़ा अपराध क़रार दे दिया था।

इधर अंग्रेजों के भारत में आने से, भारत में 'एक पत्नीव्रत' की भावना मूलबद्ध हुई। इसके बाद गान्धीजी जी के नेतृत्व में भारत की स्त्रियों ने जन-स्वातन्त्र्य में भाग लिया और वे पर्दे से बाहर आईं तथा मताधिकार उन्हें मिला। इससे स्त्री अब परिग्रह न रह गई—मनुष्य की जीवन संगिनी हो गई।

सच पूँछा जाय तो पुरुषों की हिंसक वृत्ति ने स्त्रियों को सहस्राब्दियों तक दासता के बन्धन में डाल रखा। बहुपत्नित्व, वैधव्य और पतिव्रत धर्म का बोझ उन पर लादे रखा। जहाँ एक पुरुष एक ही समय में अनेक स्त्री रख सकता था, वहाँ स्त्री को मृत-पति के साथ जीवित जला देना धर्म बना दिया गया। पुरुष वृद्धावस्था तक ब्याह कर सकता है किन्तु स्त्री के लिए ८ से ६० तक विधवा का विधान बनाया। वह कभी स्वतन्त्र नहीं रह सकती। उसकी सारी आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रा छीन ली गई। और उसकी स्थिति

घर में दासी से भी हीन बना डाली गई। परदे की घृणित और भयानक प्रथा उन पर लाद दी गई। यदि स्त्री हृदय में मातृप्रेम का अंकुर न होता तो वह शायद पुरुषों के इस अत्याचार को कभी नहीं सहन कर सकती थी।

बड़े-बड़े नेता और विचारक भी 'स्त्री' को 'रत्न' कहते हैं। कीमती रत्न। जिसे यत्न से घर की चहार दीवारी में अपने मौज-मजा के लिये छिपाकर रखा जाने लगा। कोई उसे देख न सके, छू न सके, उसे हवा न लग जाय। पारिवारिक जीवन में उसका उपयोग पत्नी के लिए नहीं, पति की सम्पत्ति के लिए उत्तराधिकारी उत्पन्न करने के लिए किया जाने लगा। इसी से सन्तान न होने पर दूसरे-तीसरे विवाह लोग करते आए हैं। सन्तान के लोभ में दूसरा-तीसरा ब्याह करने की हिमाकत करने वालों को यह कभी नहीं सूझा कि इससे स्त्री के अधिकारों का कहाँ तक खून होता है। ऐसी स्त्रियों की कमी नहीं; जो पति का चुपचाप अत्याचार सहन करना और उसकी उचित अनुचित सब आज्ञाओं का पालन करना अपना पतिव्रत धर्म समझती हैं। अच्छा, आप ज़रा इस बात पर तो विचार कीजिए कि आखिर यह पतिव्रत धर्म है क्या बला।

पुरुष के साथ स्त्री के दो सम्बन्ध हैं। एक काम सम्बन्ध दूसरा प्रेम सम्बन्ध। काम सम्बन्ध शारीरिक है। स्त्री स्त्री है पुरुष पुरुष। दोनों में भिन्न लिङ्गी होने के नाते लैङ्गिक आकर्षण है। यह आकर्षण कोरा आकर्षण ही नहीं है, वैज्ञानिक रीति पर दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। प्रजनन इसकी पूर्णता है। और इसी पूर्णता से जीवन का प्रवाह कायम है। पुरुष और स्त्री की भाँति संसार के सब कृमि-कीट-पतङ्ग और वनस्पतियों में भी यह लैङ्गिक आकर्षण है।

परन्तु नारी का प्रेम सम्बन्ध शुद्ध मानसिक है। शरीर से उसका बाह्य सम्बन्ध नहीं। यह प्रेम सम्बन्ध कहीं-कहीं नैसर्गिक रीति से इतर प्राणियों में भी दीखता है, परन्तु मनुष्य जैसा नहीं। इस प्रेम सम्बन्ध ही के कारण नर नारी आकर्षण का तारतम्य कायम रहता है, अन्य पशु पक्षी, कामपूर्ति होने

पर अपरिचित हो जाते हैं, परन्तु प्रेम के माध्यम से मनुष्य स्त्री-पुरुष अनुबन्धित बने रहते हैं। दया, सहानुभूति और त्याग की भावनाएँ भी प्रेमतत्त्व ही से मनुष्य को प्राप्त होती हैं।

अब काम और प्रेम सम्बन्ध को छोड़कर यह तीसरा पतिव्रत सम्बन्ध क्या है यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। मजेदार बात तो यह है कि पतिव्रत धर्म का सारा बोझ स्त्री पर ही है, पुरुष पर नहीं। और उसका सारा ही कारोबार मरने के बाद का है। पतिव्रता स्त्री वह स्त्री नहीं है जो पति को सच्चे मन से प्यार करती है, त्यागपूर्ण सेवा करती है, ऐसी स्त्रियाँ आदर्श पत्नी कही जा सकती हैं। पतिव्रता तो वह स्त्री है जो विश्वास रखती है कि पिछले जन्म में यही मेरा पति था, और मरने के बाद परलोक में या दूसरे जन्म में यही पति मुझे प्राप्त होगा। इस विश्वास के आधार पर, वह व्रत उपवास और अनेक कृत्य करती हैं। अब ज़रा आप इस बात पर विचार कीजिए कि आज एक स्त्री का पति मर गया, और उसकी स्त्री ४०–५० या दस-बीस वर्ष तक विधवा बैठी रही। इस आशा में कि स्वर्ग में, परलोक में उसका पति उसे मिल जायगा। अब आप यह बताइए कि स्वर्ग में कोई मकान, धर्मशाला, होटल या वेटिंगरूम है—जहाँ ये पति महाशय पचासों वर्ष तक बैठे अपने पत्नी के मरने की बाट जोहते बैठे रहेंगे? फिर हिन्दु तो पुनर्जन्म मानते हैं, यह भी वह कहते हैं कि जीव बेचारा अपने प्रारब्ध या कर्मवश चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है। अब यदि पति महाशय कर्मवश बन गए भेड़िया, चूहा या बन्दर, और पत्नी महाशया बन गई बकरी, बिल्ली या हथिनी। सो इस जोड़ी का हिसाब-किताब कैसे बैठेगा? चूहे के वंश में पति देवता लपक कर बिल्ली रूप धारिणी पत्नी को प्यार करने आएँगे और पत्नी जी उछल कर उनका गला दबोच लेंगी। इस मूर्खतापूर्ण, झूठे और बुद्धि विरोधी बातों की चर्चा कहाँ तक की जाय। और आज की सुशिक्षिता स्त्रियाँ कहाँ तक इस पतिव्रत धर्म को लादे फिरेंगी, यह सोचने की बात है।

मैंने बताया कि हिन्दु विवाह पद्धति के अनुसार हिन्दु स्त्री का विवाह उसके अपने लिये नहीं होता—प्रत्युत पति की सम्पति के उत्तराधिकारी को पैदा करने के लिए होता है। संतान पति पत्नी दोनों की नहीं—सिर्फ पति की मानी जाती है। इसके अतिरिक्त वह केवल पति की पत्नी ही नहीं है, पति के परिवार की एक सदस्या भी है। वह किसी भी हालत में—यहीं तक कि पति से अन्याय पूर्वक त्यागी जाने पर भी पति से जीते जी प्रथक् नहीं हो सकती। और जब जन्म २ का सम्बन्ध ठहरा तो प्रथक् होने की बात ही क्या रह गई। उसे विवाह के समय ऐसी प्रतिज्ञाएँ भी करनी पड़ती हैं—जिनसे वह पति के परिवार की सदस्या बन जाती हैं। वह जैसे पति की पत्नी है वैसे ही उसके भाइयों की भाभी, भतीजे की चाची, बहुओं की द्योरानी जिठानी। ये सब पारिवारिक सम्बन्ध शताब्दियों से चले आ रहे हैं। और इन सबने पति पत्नी का एक अविच्छिन्न अटूट सम्बन्ध बना रखा है। परन्तु पाश्चात्य विवाह सम्बन्ध एक ठेका है, उसकी मियाद ज्यादा से ज्यादा मृत्यु तक है, परन्तु वह बीच में भी टूट सकता है। इसलिए योरोप में पत्नी के पारिवारिक सम्बन्ध नहीं हैं। पारिवारिक सम्बन्धों के नाम—भाभी-चाची-ननद-जिठानी-द्योरानी, ताई, आदि के पर्यायवाची शब्द नहीं है। मिस्टर इनला—मदर इनला, ये कोई नाम नहीं है। कामचलाऊ उच्चारणमात्र हैं।

परन्तु एक पत्नीव्रत का प्रचार होने, तथा स्त्रियों के शिक्षित और पर्दे से बाहर होने से अब स्त्री पति की जीवन सङ्गिनी बन गई है। और वह पति से बराबरी का सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है, अपने इस अधिकार के लिए वह लड़ने मरने तक को तैयार है।

योरोप में स्त्री स्वातन्त्र्य का प्रचार है, पर वह कोरा दिखावा है। भीतरी दासता स्त्रियों की वहाँ भी बनी है, सारे संसार की स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर अवलम्बित हैं। इस से वे स्वतन्त्र हो ही नहीं पातीं। पति दुराचारी हो, तब भी वह निरुपाय उसी की शरण में पड़ी रहती हैं। बच्चों की मुसीबत प्रथक है। पति को तलाक देकर किसी तरह वह अपना निर्वाह

कर भी लें लेकिन बच्चों का क्या करें ? बच्चों को लेकर वह दूसरा विवाह भी तो नहीं कर सकती। फिर ४० की उम्र होते २ तो उसका सारा आकर्षण ही ख़त्म हो जाता है। विवाह की बात हास्यास्पद हो जाती है। हाँ श्रीमती सिम्पसन जैसी स्त्री और बादशाह एडवर्ड अष्टम जैसा सनकी पुरुष हो तो बात ही जुदा है। अमेरिका और योरोप में बहुत स्त्रियाँ भिन्न २ आजीविका करती हैं। उनमें बहुत स्त्रियाँ संतान की लालसा रखती हैं, परन्तु वे जानती हैं कि यदि वे विवाह करेंगी तो उन्हें जीवन भर पुरुषों की दासता भोगनी पड़ेगी। रूस की सोवियट सरकार ने अल्पत्ता स्त्रियों के लिए नए प्रयोग किए हैं, परन्तु अभी वे प्रयोग ही है।

सही अर्थों में सारे संसार में राजनैतिक दृष्टि से स्त्रियों को पुरुषों ने अपने शासन में रखा है, आगे भी ऐसा ही रखने का विचार है। पुरुषों को स्त्रियों पर हुकम चलाने की आदत पड़ गई है। राष्ट्रवादी देशों की दृष्टि में तो स्त्रियाँ पुरुषों के भोगविलास की, तथा युद्ध में तोपों के मुँह में झोंक देने के लिए नए प्राणी पैदा करने की ज़िन्दा मशीनें हैं। इसलिए वे अन्य यन्त्रों की भाँति इस ज़िन्दा यन्त्र पर भी अपना क़ब्ज़ा बनाए रखना चाहते हैं। संसार के पुरातन इतिहास को आप पढ़िए—साहित्य का मनन कीजिए, कहीं भी ऐसा नहीं दीख पड़ता; जहाँ स्त्री को 'परिग्रह' न माना गया हो। मनु तो साफ कहता है। न स्त्री स्वातन्त्र्य महँति'। मध्य युग के विद्वानों में सिर्फ वराह मिहिर ने स्त्रियों की कुछ हिमायत की है। कौटिल्य ने भी बहुत विचार किया है, मेरा ख़याल है कौटिल्य ही पहला आचार्य है जिसने स्त्री जाति के स्वार्थों पर सामाजिक दृष्टि से व्यापक प्रकाश डाला है। अमेरिका और योरोप में धनी लोग स्त्रियों के शौक पूरा करने में भारी ख़र्च करते हैं, फिर भी तलाकों की संख्या कम नहीं होती। कारण स्पष्ट है। स्त्री तब तक संतुष्ट न होगी जब तक उसे सामाजिक स्वाधीनता नहीं मिलेगी। स्वतन्त्रता उन्हें तब मिलेगी जब राष्ट्रवाद और पूँजीवाद के सड़ते हुए मुर्दे दफना दिए जायगें।

'स्त्री' को रत्न तो कहा गया है, पर उसका मूल्य पुरुषों ने रक्खा है कानी कौड़ी। क्योंकि वह हीरे मोती की भाँति दुर्लभ नहीं। सुलभ है। पानी की भाँति, जो मनुष्य की प्यास से अधिक सर्वत्र बहता और बिखरता रहता है। परन्तु यदि पानी प्यास के समय मिलना दुर्लभ हो जाय तो मैं समझता हूँ कि उसकी एक बूँद के लिए—कोई भी सम्राट् अपने मुकुट के सारे रत्न दे डालेगा। इसी प्रकार किसी दिन यदि स्त्रियाँ संसार में दुर्लभ हो जाँय तब जाना जायगा कि उनका मूल्य क्या है।

स्त्रियाँ कहाँ तक सेवा-प्रेम और सहन कर सकती हैं—कहाँ तक उनकी लालसा की तृप्ति कर सकती हैं, इसी पर स्त्री का मूल्य आँका जाता है। सारे संसार में सतीत्व को स्त्री का सबसे बड़ा गुण माना जाता है—क्योंकि पुरुष के लिए वही सबसे अधिक लाभदायक है। रामायण-महाभारत-पुराण आदि में बारंबार सतीत्व की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा की गई है।

परन्तु यह सतीत्व स्त्रियों ही के लिए है पुरुषों के लिए नहीं। धर्म शास्त्रों ने पुरुषों को यहाँ तक खुलकर खेलने की छूट देदी है कि वे पैशाच विवाह को भी विवाह कह गए हैं। तभी तो जब विवाह का विचार उठता है तब धर्मशास्त्रों को टटोला जाता है कि उनमें विधवा को विवाह का अधिकार है या नहीं। इस सतीत्व का चरम रूप बन गया सती होना। चिता पर जिन्दा जल जाना। क्या कभी किसी ने इस बात पर भी विचार किया कि जिसे एक दिन अपना वंश वृद्धि के लिए गाजे-बाजे के साथ अपने घर में गृहलक्ष्मी बना कर लाये, जिसके लिए प्राणान्तक युद्ध किए, आज उसकी ऐसी निर्मम हत्या कैसे की जाय? परन्तु इन बातों पर विचार कौन करे। इस मुर्दे के साथ परलोक में भोग-विलास कौन करेगा? परलोक में उस पति देव की सेवा कौन करेगा। इसके अतिरिक्त विधवा का अब उपयोग ही क्या रह गया? उससे तो भविष्य में अशान्ति और झगड़े-झंझटों का ही भय है, इसलिए अब इस विधवा नामधारी ईंधन को जला डाला जाय।

भारत ही में नहीं। सारी ही दुनिया में विधवाओं के विवाह को अना-

दर की दृष्टि से देखा जाता रहा है। इसी से पति की चिता पर स्त्री का जला डालना ही एक प्रकार का नारी पूजन समझा जाने लगा। उसे सती का परम धर्म बताया गया। मनु ने तो स्पष्ट कह दिया कि पति सेवा को छोड़ स्त्री के लिए कोई काम नहीं है, फिर जब पति परलोक चला तो इस सेविका को भी उसी के साथ चिता पर रख कर रवाना कर दिया गया। देर करने से बेचारे पति देव को परलोक में बिना सेवा के कष्ट हो सकता था। बड़े-बड़े लोगों ने निर्लज्जता पूर्वक सतियों की महिमा बखान की है। 'जिस देश में हँसते-हँसते स्त्रियाँ पति चरण को गोद में लेकर चिता पर बैठ जाती थीं, परन्तु आप क्या बता सकते हैं कि उसे एक कटोरा भाँग धतूरा मिला कर क्यों पिला दी जाती थी। क्यों उसे नशे में बदहवास कर दिया जाता था। जब उस सती के श्मशान की ओर पति की अर्थी के पीछे-पीछे खूब सजा-धजा कर हँसते-रोते ले जाया जाता था—तब वह कभी-कभी जमीन पर गिर कर क्यों लोट जाती थी। फिर चिता पर बैठा कर उसे कच्चे बांस की मचिया पर क्यों दबा दिया जाता था। चिता पर बहुत-सी राल और घी डालकर बहुत अधिक धुआँ क्यों कर दिया जाता था, इसी से न कि उसकी छटपटाहट और मृत्यु यन्त्रणा देख कर कोई डर न जाय। दुनिया भर के ढोल, दमामे करताल शंख क्यों फूके जाते थे? इसी से न, कि उसका आर्तनाद कोई न सुन सके। अरे हत्यारो, अरे खूनियो, आज तुम्हें इसी पाप का फल भोगना पड़ रहा है। समय आएगा जब इस सती धर्म का पूरा मूल्य पुरुषों को चुकाना पड़ेगा।

कैसे शोक की बात है कि मृत पति के साथ स्त्री की आत्महत्या का प्रचार अन्य देशों में भी रहा है। अफ्रीका के सरदारों की पत्नियाँ बहुत पहिले ही अपने गले में फाँसी लगाने के लिए रस्सियाँ तैयार करके रख छोड़ती थीं। फिजी द्वीप में जब कोई सरदार मरता था तो उसकी पत्नियाँ अपना गला घुटवाकर प्राण त्याग करना बड़ा भारी पवित्र काम समझती थीं।

आश्चर्य की बात है कि इतना अत्याचार और पैशाचिक निष्ठुरता सहन

करके भी स्त्रियाँ पुरुषों को प्यार करती रही हैं। शायद वे अभी तक यह नहीं समझ पाई हैं कि जिसको पिता भाई या पति कहती हैं वह कितना स्वार्थी नीच और निष्ठुर पुरुष है। ये स्त्रियाँ सदैव उसी पर विश्वास करती आई हैं जिसे पुरुष ने धर्म कह दिया। उन्होंने पुरुष की इच्छा को अपनी इच्छा मानकर भूल की है। भूलकर के गर्व और सुख की अनुभूति की है।

पुरुष की नीचता की हद हमें उस समय दीख पड़ती है जब बिल्व मंगल के नाटक में हम एक वणिक को हजारों आदमियों के सामने खड़ा होकर एक वणिक को लम्बा भाषण देकर अपनी पत्नी को एक लम्पट अतिथि की शैया पर भेजते देखते हैं। इसे धर्म की बात समझ कर कभी दर्शकों ने विरोध नहीं किया। यह पतिव्रता का सम्मान है या अपमान, अब आप ही इसका निर्णय कर लीजिए। अमेरिका की कुछ असभ्य जातियाँ अभी भी हैं जो अतिथि की शैया पर घर की श्रेष्ठ कन्या को या पत्नी को भेजना परम धर्म समझते हैं।

सारे ही सभ्य असभ्य जाति की स्त्रियों की दशा को देखकर मैं यही कह सकता हूँ कि अपने स्वार्थ के लिए पुरुषों ने सदैव स्त्रियों का अपमान किया। अफसोस की बात तो यह है कि स्त्रियाँ यह बात समझ कर भी नहीं समझतीं। और इस बात पर विचार नहीं करती कि उनके सब दुःखदर्दों की तह में उनके भाई-पिता और पति हैं, जो पुरुष है। वे उन्हें आत्मीय पत्नी या पुत्री समझ कर नहीं—नारी, समझ कर उनके सम्बन्ध में निर्णय करते हैं। उस समय वे पिता-भाई या पति नहीं होते—केवल पुरुष होते हैं। उनका एक ही ध्रुव-ध्येय है कि स्त्रियों से किसी प्रकार अधिक से अधिक वसूल किया जाय। मनु हैं, पराशर हैं, मूसा हैं, पाल हैं, जो श्लोक पर श्लोक, वचनों पर वचन बनाते जाते हैं। जो स्वार्थ को धर्मासन पर बैठा कर समाज का शासन करना चाहते हैं। फिर यह स्वार्थ जब धर्मासन पर बैठ कर निर्मम शासन करता है, तब उसके रुआब के सामने व्यक्तिगत सब सुख दुःख, स्नेह, ममता-ज्ञान, विवेक अतलपाताल में डूब जाते हैं। हमारी सती

की प्रथा तथा दूसरे देशों की ऐसी ही निष्ठुर प्रथाओं का मूल कारण यही है। पुराने जमाने से यहूदी लोगों में देवता के सामने अपने पुत्र या पुत्री की बलि देने की प्रथा थी। इनकी धर्म पुस्तकों के एक एक पृष्ठ संतान की हत्या के खून में रंगे हुए हैं। मैक्सिको निवासी अपने देवता के आगे अपनी सर्व श्रेष्ठ कन्या को बलि देना सबसे बड़ा पुण्य समझते थे। कार्थेज के राजा ने देवता के सामने अपनी कन्या की बलि दी थी। कभी लोग गंगासागर में अपनी सन्तान को फेंकने में पुण्य समझते थे। और जब अंग्रेजों ने इस कुप्रथा को कानून बनाकर रोका, तो लोगों ने विलायत तक उसकी अपील की। इन पगड़बाज़ पण्डितों ने जनता को अपनी पोथियों को जादू से ऐसा वश में किया कि लोग प्रत्येक सामाजिक बात पर इन्हीं पुराणपंथियों के पास निर्णय कराने को दौड़ने लगे। हर बात में लोग उन्हीं से पूछते हैं—यह बात ठीक है या नहीं। वे भी बात-बात में शास्त्र के पन्ने खोलकर देखते हैं। केवल शास्त्रों के श्लोकों को ही वे जानते हैं और कुछ नहीं। वे यह बात नहीं मानते कि विद्या के आलोक से हृदय उदार होता है। आप उनसे पूछिए—हम किस उम्र में लड़की की शादी करें, विधवा विवाह करें या नहीं, तो वे अपनी पोथी टटोलने लगते हैं। इन पोथी धर्म पोथियों ने उनकी दृष्टि और विचारों को अति क्षुद्र बना दिया है। इन धर्मशास्त्रों ने नारी जाति को सदैव के लिए दुःख सहने की परिस्थिति में डाल दिया है। बृहदारण्यक उपनिषद में लिखा है—कि स्त्री यदि सहवास से इनकार करे तो उसे डंडे से मारो। प्राचीन बैबिलोनियन जातियों में यह परिपाटी थी, कि यदि पत्नी अपने पति को पति मानने से घृणा करे तो पति को यह अधिकार था कि वह उसे नदी में फेंक दे। किन्तु पति यदि पत्नी से कहे कि तू मेरी पत्नी नहीं—तो वह उसे आधीमीना चाँदी देकर घर से निकाल दे। देखिए कैसा न्याय है, बैबिलोनिया में लड़कियाँ पिता के द्वारा पति के हाथ बेच दी जाती थीं। प्लेटो ने यह देखकर लिखा था—कि जिन स्त्रियों को हम अन्धकार में और घर के काम धन्धों में लगाए रहते

हैं, क्या वे अधिक उत्तम और उच्च कामों के उपयुक्त नहीं हैं। क्या स्त्रियों में साहस, बुद्धिमत्ता तथा सब कलाओं में प्रवीण होने के उदाहरण नहीं मिलते ?"

एक बार घर छोड़कर वेश्या वृत्ति करने वाली स्त्रियों की जाँच-पड़ताल की गई थी। उससे पता लगा कि अत्यधिक दरिद्रता और पति का असह्य अत्याचार ही अधिकांश में उनके घर छोड़ने का कारण है, एक खास बात यह थी कि सधवाओं में सब नीच जाति की स्त्रियाँ थीं और विधवाओं में सब ऊँची जाति की। और यदि इस मर्म को समझने की चेष्टा की जाय तो आप देखेंगे कि भलेघरों की विधवाओं की स्थिति छोटी जाति की सधवाओं जैसी है। उन्हें स्वाधीन रूप से शारीरिक परिश्रम करके जीविका उपार्जन नहीं करने दी जाती। लोग समझते हैं—इससे पिता का तथा सुसराल का दोनों का कुलकलंकित होगा। परिणाम स्वरूप वे घर में अनादर उपेक्षा, उत्पीड़न सहन करती हैं, और असह्य होने पर घर छोड़ भागती हैं। परन्तु नीच जाति की विधवा अधिक खुश रहती हैं। वे हाट बाजार जाती हैं किसी बात का भय नहीं रखतीं और आवश्यक होने पर दासी का काम करने लगती हैं।

नैपोलियन जैसे पुरुष भी स्त्रियों को हीन दृष्टि से देखते थे। एक बार नैपोलियन मैडम कण्डोरसेट से कहा—'मैं नहीं चाहता कि स्त्रियाँ राजनीति में हस्तक्षेप करें' इस पर मेडम ने जवाब दिया था—"आप ठीक कहते हैं जनरल, परन्तु जिस देश में स्त्रियों के सिर कुल्हाड़े से काटे जाय—उस देश की स्त्रियाँ स्वभावतः ही यह जानना चाहेंगी कि उनके सिर क्यों काटे जा रहे हैं।"

पशुओं में हम एक प्रवृत्ति पाते हैं। जब दो सिंह प्राणान्त युद्ध करते हैं, तब सिंहिनी चुपचाप देखती रहती है। और फिर चुपचाप विजयी के पीछे-पीछे चल देती है। कुछ दिन दोनों साथ रहते हैं। और जब सिंहनी बच्चे देती है तो दोनों प्रथक् हो जाते हैं। बच्चों के पालन-पोषण का सारा भार

माता ही पर रहता है। बन्दर और गुरिल्ला भी ऐसा ही करते हैं। प्राचीन असभ्य जातियों में यही प्रथा थी। अमेरिका के असभ्य चिपिवायन लोग स्त्री के लिए द्वन्द-युद्ध करते हैं। यदि ये लोग अपनी सगी माता को भी सुन्दरी समझते हैं तो उसे अपने बूढ़े पिता से ज़बर्दस्ती छीन लेते हैं। इस जाति का कोई आदमी जब अपनी पत्नी को तलाक देता है, तब उसे अच्छी तरह मारपीट कर घर से बाहर निकाल देता है। बस यही तलाक है। आस्ट्रेलिया की आदिम जाति के लोग स्त्री के लिए भालों से लड़ते हैं। अमेरिका की मन्च जातियों के लोग स्त्री के लिए घातक युद्ध करते हैं। वहाँ की दूसरी जाति डाकव के लोग स्त्रियों से पशु की भाँति काम लेते हैं। मन्च जाति का एक-एक आदमी पचास-पचास बार विवाह करता है। इन सब जातियों में स्त्री को ग्रास करने और उसे त्याग करने की प्रवृत्ति भी ठीक वन्य पशुओं जैसी ही है। स्त्रियाँ भी वैसी ही हैं। ज्योंही पति भाला लगने से घायल होकर ज़मीन पर गिरा कि वह अपने सामान की गठरी सिर पर रख चुपचाप विजेता के पीछे होली।

अब आप यदि इस घटना पर गम्भीरता से विचार करें तो आप एक बात यह स्वयं ही देखेंगे कि ये पशु अथवा जंगली जाति अपनी नैसर्गिक भोग लिप्सा और उत्तेजना के वशीभूत होकर लड़ मर तो जाते हैं, परन्तु उसकी सफलता और परिणाम का विचार उनमें नहीं है। नारी जाति के मूल्य का तो कोई प्रश्न ही यहाँ नहीं है। इस प्रकार जो पुरुष प्राण देता है, उसके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसने स्त्री के लिए प्राण-विसर्जन किया। उसका भार तो उसकी अपनी प्रवृत्ति पर ही है। यहाँ नर-नारी के प्रेम माधुर्य का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने जब अपनी माता को एक अपरिचित ब्राह्मण के द्वारा ज़बर्दस्ती खींच ले जाते देख अपने पितासे पूछा था कि यह मेरी माता को कहाँ लिए जाता है—तो पिता ने कहा था—'पुत्र, स्त्रियाँ तो स्वभाव ही से स्वैरिणी हैं'। यह समाज की वह अवस्था है जहाँ स्त्री पुरुष की सम्पत्ति है। वह जब तक

अपनी सामर्थ्य से स्त्री को चाहेगा अपने अधिकार में रखेगा और जब चाहेगा त्याग देगा। यहाँ मैं पलिनेशिया और न्यू कैलिडोनिया तथा फीजी-द्वीप की कुछ असभ्य जातियों का उदाहरण देना ठीक समझूँगा—जहाँ के लोग स्त्रियों के लिए प्राणघातक युद्ध करते हैं! और जब वह उनके मन से उतर जाती हैं तब उसे मार कर खा जाते हैं। यह बात सुनकर शायद आप घृणा और भय से सिहिर उठें—पर आप जो उसे बाँस की मचिया में दबोच कर और धतूरा पिला कर ज़िन्दा जलाते रहे हैं सो? दोनों बातों में इन जंगली लोगों ही की प्रथा कम क्रूर है। असभ्य मपुची जाति में थोड़ी सभ्यता का विकास हुआ मानना चाहिए। उनके यहाँ पति के मरने पर, यदि उस पति की दूसरी स्त्रियों से उत्पन्न सन्तान जवान न हों तो स्त्री स्वतन्त्र हो जाती हैं। पर यदि दूसरी स्त्री से उत्पन्न जवान लड़के हों तो वे उन्हें आपस में अपने पिता की ज़र्मान जायदाद की भाँति ही बाँट लेते हैं। आप चौंकिए मत, युधिष्ठिर ने भी तो द्रौपदी को जुए के दाव पर लगा लिया था। जिन्हें आप धर्म-पुत्र कहते हैं।

हमारे धर्मशास्त्रों के विधान के अनुसार यदि कन्या का पिता अपनी विधवा कन्या का पाया हुआ मूल्य न लौटा दे तो हिन्दू विधवा पर श्वसुर-कुल का पूरा अधिकार होता है। हिन्दू धर्म में विधवा पर 'देवर' का पहिला हक़ है, इसी भाँति वेरापाज के आदिम निवासियों में प्रथा है कि मृत पति का भाई उस विधवा को तुरन्त ही अपनी पत्नी बना लेता है, भले ही वह विवाहित हो। अभिप्राय यही है कि यह दौलत घर से बाहर न जाने पावे।

ईसाइयों की प्राचीन धर्म पुस्तक में लेवी चिनाओं का अपनी विधवा पुत्रवधू को दूसरे के हाथ बेच डालने का उल्लेख है। अमेरिका के बोस्टन नगर में सन १८५० तक स्त्री के विवाह के पूर्व ही अपनी सारी सम्पत्ति भावी पति के नाम लिख देनी पड़ती थी। वह न कोई 'व्यक्ति' मानी जाती थी न 'नागरिक'। अँग्रेजी सार्वजनिक नियम के अनुसार पति उसका स्वामी होता था—और वह उसे छड़ी से पीट सकता था। मैसेचुएट्स

राज्य के सार्वजनिक कानून के अनुसार पति पत्नि दोनों एक व्यक्ति माने जाते थे, परन्तु वह व्यक्ति पति होता था। स्त्री को कोई व्यक्तिगत अधिकार नहीं होता था। उसके सम्बन्ध में कहा गया है—'She has no Personal right and could hardly call her soul her own.

सारे ही उदाहरण हमें इसी ओर संकेत करते हैं कि स्त्रियों की गणना संपत्ति ही के अंतर्गत रही हैं। इसी से संपत्ति का उत्तराधिकार भी स्त्री की ओर से ही आया। एक-एक स्त्री का चार-चार बार बटवारा हो जाया करता था। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता था कि उसकी गर्भस्थ संतान किस वंश की है। इसी से पुरुष के मरने पर उसकी संपत्ति उस स्त्री की संतान को बहुत-सी जातियों ने नहीं दी। बल्कि उसकी बहिन की संतान को दी। क्योंकि कम से कम वह पति के वंश की तो थी। इसलिए संपत्ति भांजे को मिलती थी पुत्र को नहीं। भारत के दक्षिणांचल की द्रविड़ जातियों में, तथा टोडा लोगों में उत्तराधिकार की यही प्रथा है। सुमात्रा द्वीप के बारुप्रदेश में, अफ्रीका के सुवर्ण उपकूल के हब्शियों में, अमेरिका के पेरू देश की असभ्य जातियों में तथा दूसरी आदिम जातियों में सम्पत्ति का उत्तराधिकार स्त्री की ओर से ही होता आया है।

इस हालत में स्त्री से प्रेम तो फिर उतना ही हो सकता है जितना किसी का संपत्ति पर हो सकता है। यही कारण है कि स्वार्थ और वासना के वशीभूत होकर पुरुषों ने स्त्रियों का सदैव पीड़न किया है। जहाँ पुरुष स्त्रियों की हत्या तक करने की क्षमता रखते हैं—वहाँ प्रेम की चरचा ही क्या। ऐसी अनेक असभ्य जातियाँ हैं जो स्त्री पुरुष के बीच 'प्रेम' नाम की कोई वस्तु है यह जानते ही नहीं। हब्शी जाति की भाषा में 'प्रेम' या 'ईर्षा का सूचक कोई शब्द ही नहीं है। वे नहीं जानते प्रेम और ईर्षा क्या बला है। काफिरों में विवाह और प्रेम से कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि अत्यन्त निष्ठुर डाहोमान, मालगासी,

फीजियन, लीपा और बेचुआना आदि जातियों के घरों में पतिव्रता पत्नियाँ पाई जाती हैं। डाहोमा और फिजी द्वीप में पति की मृत्यु होने पर स्त्रियाँ आत्मघात कर लेती हैं। कांगो और उगाडा देशों के बाहुमा जाति के बड़े आदमी बात-बात में बिना अपराध ही स्त्रियों की हत्या कर डालते हैं—और जब उनके हाथ रस्सियों से बाँध कर उन्हें घसीटते हुए वध्यभूमि की ओर ले जाते हैं तो वे -हे मेरे राजा, हे मेरे स्वामी, कह कर रोती चिल्लाती जाती हैं, जब कि उनके ये 'स्वामी' मुस्कुराते रहते हैं। इस देश के राजा किलेरा की मृत्यु के तुरन्त बाद उसके पुत्र ने पिता की सभी कन्याओं के साथ ब्याह कर लिया, और इसके सात ही दिन के बाद उनमें से तीन को ठीक तरह से अभिवादन न करने के अपराध में जिन्दा जलवा दिया। कप्तान स्पेक ने यह अपनी आँखों देखी घटना लिखी है। यही पर्यटक कप्तान स्पेक हब्श देश की एक घटना इस प्रकार लिखता है—"राजा और उसकी सब रानियाँ वृक्षों के नीचे इधर-उधर घूमने और फल तोड़ने लगे तथा आनन्द करने लगे। दुर्भाग्य से राजा की एक रानी ने जो परम सुन्दरी थी—एक फल तोड़ कर राजा को देना चाहा—पर राजा पागलों की तरह बिगड़ बैठा। और कहने लगा कि यह पहिला ही अवसर है जब किसी स्त्री ने मुझे कोई चीज़ भेंट करने की गुस्ताख़ी की है। और उसने आज्ञा दी कि उसे पकड़ कर बाँध लो और फाँसी पर लटका दो।"

स्त्री जाति के लिए जो यह स्वार्थ परता एकान्त—उन्मत्तता और पाशव प्रवृत्ति दुनिया भर में रही है उसने केवल स्त्री का ही अपमान नहीं किया है पुरुष को भी बहुत नीचे गिराया है।

आज के सभ्य जीवन में भी नारी का स्थान वैसा ही है—उसका रूपान्तर भले ही हो गया हो। परन्तु अब मानव जाति के इतिहास में विकास का वह युग आ चुका है जब स्त्री पुरुष के सम्बन्धों के सब पुराने आधार समाप्त हो जाने चाहिए और प्रेमाकर्षण ही उसका मूलाधार होना

चाहिए। तभी स्त्री पुरुष समान भाव से परस्पर के पूरक होकर एक दूसरे के जीवन साथी हो सकते हैं।

× × × ×

इसका एक ज्वलन्त उदाहरण यह है कि इस समय जापान में एक लाख बच्चे ऐसे हैं जिनका कोई मालिक या पिता नहीं है। ये बच्चे उन अमेरिकनों ने जापानी स्त्रियों में उत्पन्न किए हैं जिन्होंने जापान को सभ्य बनाने के लिए गत ५ वर्षों से उसे अपनी दासता में जकड़े रखा था। वे लोग तो उन बच्चों को छोड़कर चल दिए। अमेरिका उन्हें अपने देश में आने की अनुमति नहीं देती और वे अपनी माताओं पर भार रूप हैं।

१२

"गणराज्य" जनता का खून चूसनेवाला खटमल

अंग्रेजों के भारत से चले जाने के बाद जो स्वतन्त्र भारत में कांग्रेसियों के संरक्षण में 'गणराज्य' स्थापित हुआ है। उसका मैं हरगिज़ स्वागत नहीं कर सकता। यह गणराज्य खुदपरस्तों, आपापन्थियों, तिकड़मबाजों और पूँजीवादी गाइकमियों के गुर्हों का राज्य है। यह राज्य जनता का राज्य नहीं है, जनता की राय लेने का जो अभिनय किया जाता रहा है—वह महज़ धोखे की टट्टी है। वास्तव में यह गणराज्य जनता का खून चूसने वाले खटमलों का राज्य है। न जन हितैषी राज्य है।

ऐसे गणराज्य पहिले भी भारतवर्ष में हुए हैं। महाभारत, जैनसूत्र और अर्थशास्त्र में ऐसे गणराज्यों की चर्चा है। आचाराङ्ग सूत्र में जैन साधुओं को 'दो राआणि'—जहाँ दो राजा हों या 'गण राआणि' जहाँ गणराज्य हो वहाँ जाने की मनाही की गई है। महाभारत शान्तिपर्व में गणों के कोष और सेना का उल्लेख है। बौद्धों के पूर्व गणों का नाम 'संघ' भी था, बुद्ध ने उन्हीं के अनुकरण पर 'बौद्ध संघ' बनाया था। कौटिल्य ने अर्थ-शास्त्र में गणतन्त्रों का वर्णन 'संघ वृत्त' नामक प्रकरण में दिया है। पतञ्जलि ने भी गणों का उल्लेख किया है। भारत के गणराज्यों की चर्चा ग्रीक लेखकों ने भी की है। सिकन्दर को पंजाब में इन्हीं गणराज्यों से लड़ना पड़ा था, उनमें अरट्ट, खत्तिक, क्षुद्रक, मालव प्रसिद्ध थे। वैदिक ग्रन्थों में यादवों-स्वराष्ट्रों, उत्तर कुरू और उत्तर मद्र के 'वै राज्य'—बिना राजा के राज्यों का वर्णन हैं। वह भी गणराज्य ही था। ग्रीस लेखक डेविड ने तथा अर्थशास्त्र में बौद्धकालीन गणराज्यों में लिच्छिवि, बज्जरि, मल्ल, कुरू पांचाल,

मद्र आदि जातियों के गण गिनाए हैं। जिनका विस्तार आजकल के अम्बाला, गोरखपुर, मुजफ्फरपुर जिलों के आस पास था। कौटिल्य ने 'कर्तृ शास्त्रोप जीविनः' और राज शब्दोप 'जीविनः' इन दो प्रकार के गणों की चर्चा की है। इन गणों में जातियों के मुखिया राज्य शासन चलाते थे। कहीं २ 'कुल' ही शासक होते थे—वहाँ 'कुल तन्त्र' चलता था।

इन भारतीय 'गणतन्त्रों' की रोमन लोगों की 'कौन्सिल और यूनानियों के आर्कन से तुलना की जा सकती है, 'कुल राज्य' को **Aristocracy** भी कहा जा सकता है। ये गण जातियों के होते थे। इनमें परस्पर ईर्षा-स्पर्द्धा और अपनी ही जाति की प्रमुखता का ख़याल रखा जाता था—इससे ये भीतरी संघर्षों और षड्यन्त्रों से तथा बाहरी युद्ध के ख़तरों से लदे फदे रहते थे। इनके आकार प्रायः छोटे २ होते थे—इससे प्रबल शत्रु से मुकाबिला नहीं कर सकते थे। सिकन्दर ने अनेक गणों की स्वतन्त्रता अपहरण की। चन्द्रगुप्त ने इन्हें नष्ट कर अपने साम्राज्य की स्थापना की। ग्रीस और रोम के गणतन्त्र भी अन्त में राजतन्त्र में बदल गये। योरोप के गणतन्त्र भी राजतन्त्रों में बदल गए। संघर्ष, युद्ध और साम्राज्य स्थापना गणतन्त्र के अवश्यंभावी परिणाम हैं।

गणतन्त्र का सबसे भारी और सबसे प्रधान दोष तो यह है कि उसमें 'योग्यतम' व्यक्ति को अधिकार नहीं मिलता। गुट्टों के प्रतिनिधियों को अधिकार मिलता है, चाहे उनमें योग्यता हो या न हो। इसके विपरीत जनतन्त्र में 'योग्यतम' व्यक्ति को अधिकार प्राप्त होता है।

हमारे इस भारतीय 'गणतन्त्र' में भी यह दोष उत्पन्न हो गया। राज्य में सिखों के, हरिजनों के, हिंदू सभा के, व्यापारियों के, समाजवादियों और साम्यवादियों के, जनसंघियों के और न जाने किन २ के प्रतिनिधियों का अयोग्य भेड़ बकरियों का रेवड़ भरना पड़ा। अंग्रेजों के राज्य में जिन कुर्सियों को सर फिरोजशाह मेहता, महामना मालवीय पंजाब केसरी लाजपतराय व सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, श्री निवास शास्त्री ने सुशोभित

किया, उन पर अब दूध बेचने वाले, अखबार बेचने वाले, ईमान धर्म बेचने वाले बैठ मौज मजा कर रहे हैं। मिनिस्टरों के दिन ईद और रात दिवाली में परिणत हो गए हैं। वे अपने विषयों को नहीं जानते, अपने विभागों के कार्य कलाप से अज्ञात हैं, परन्तु वे अमुक दल के प्रतिनिधि हैं, इसलिए कहीं न कहीं उन्हें मिनिस्टर, गवर्नर, राज्यपाल या ऐसा कुछ बनाकर मालमलीदे उड़ाने और चैन की बंशी बजाने का सरंजाम करना ही पड़ता है। इस प्रकार गलत रीति पर एकत्रित हुए विरोधी तत्वों ने पार्लमेंट भर गई है, और जवाहर लाल जैसे समर्थ पुरुष भी उनके जाल में उलझ कर जनहित का कोई काम नहीं कर पा रहे हैं। देश में रिश्वत, चोर बाजारी, षडयन्त्र, अशान्ति, अव्यवस्था, भूखमरी और भ्रष्टाचार फैलता जा रहा है। लोग समझ रहे हैं कि हम पठानों के अंधयुग में लौट आए हैं। अंग्रेजों की गुलामी का सुख उन्हें याद आ रहा है। 'योग्यतम' आदमी निरुपाय बैठे हैं। उन्हें धकेल कर पीछे फेंक दिया गया है। हिन्दू समझते हैं, यह हमारा राज्य नहीं है। मुसलमान समझते हैं यह हमारा राज्य नहीं है, सिख, पारसी, यहूदी समझते हैं यह हमारा राज्य नहीं है। कांग्रेस की सारी प्रतिष्ठा और सारी साख का दिवाला निकल गया है। उसका तप और कष्ट से संचित यश मैला और गन्दा हो चुका है। खद्दर की पोशाक हास्यस्पद और ढोंग की पोशाक समझी जा रही है। जनता में कांग्रेस विरोधी तत्व पनप रहे हैं। राजसत्ता के विरुद्ध जो अशांति, असंतोष और अविश्वास अंग्रेजी राज्य में था—वही, बल्के उससे कहीं अधिक आज इस कांग्रेसी राज्य के प्रति उत्पन्न होता जा रहा है, इसका कारण स्पष्ट है कि यह जनता का राज्य नहीं है। जनता नहीं समझती कि यह हमारा राज्य है—वह अपने को अभी भी राज्यसत्ता की पीड़ित प्रजा समझती है। असहाय प्रजा।

इस 'गणवाद' में दूसरा दोष यह है कि जिन गुटों के प्रतिनिधि इस गणतन्त्र को चलाते हैं, उनकी परस्पर कोई प्रेम और विश्वास की भावना नहीं

होती। संदेह और अविश्वास एक दूसरे के प्रति बना रहता है, प्रत्येक गुट्ट अपनी छोटी से छोटी स्वार्थकामना पूरी सिद्धि करना चाहता है और दूसरों की बड़ी-सी बड़ी आवश्यकता को तुच्छ समझता है। इस गणतन्त्र की दशा ठीक रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे के डब्बे के समान होती है। जहाँ सुविधाएँ कम और असुविधाएँ अधिक होती हैं, जहाँ प्रत्येक आदमी अपने ही आराम, अपनी ही सुख सुविधा का ख्याल रखता है। और दूसरों को जलती आँखों से देखता है, जरा-जरा-सी बात पर लड़ाई होती रहती है। इसी से गणतन्त्र संघर्षों, द्वेषों, आपाधापी की कारिस्तानियों और अन्धेर गर्दियों का अखाड़ा बना रहता है। इसमें सब अपनी-अपनी धनाश्री अलापते हैं, दूसरों की नहीं सुनते।

इसके विपरीत जनतन्त्र उस व्यवस्थित सद्गृहस्थ के कुटुम्ब के समान है, जो हृदय के गहरे स्नेह, विश्वास, त्याग, सहानुभूति और सहयोग के वातावरण से परिपूर्ण होता है। जहाँ भाभियाँ हँस कर प्यार बिखेरती हैं, पत्नियाँ सौभाग्य चरण से आँगन को पवित्र करती हैं। बच्चे आनन्द की किलकारी भरते हैं, पकवान बनते हैं, त्योहार आते हैं, संगीत होता है, आनन्द और शान्ति का समुद्र हिलोरें मारता है। छोटे से बड़े तक मर्यादा के साथ बँधे रहते हैं। छोटे बड़ों के चरण छूने में पुण्य मानते बड़े छोटों पर आशीर्वाद की वर्षा करते हर्षाते हैं। छोटा बड़ा होने का किसी को हर्ष विषाद नहीं होता। यही जनतन्त्र मनुष्य का सच्चागण है। तीसरा दोष इस गणतन्त्र का यह है कि यह एकता की राह पर नहीं चलता, फूट के रास्ते पर चलता है। इससे कदम-कदम पर जनतन्त्री भावनाओं से दूर होता जाता है। जिन गुट्टों से यह बना है उनमें भी फूट पड़ जाती है, एक में से अनेक गुट्ट बन जाते हैं, जैसे अभी हिन्दूसभा, कांग्रेस और मुस्लिमलीग में से फूटकर अनेक दल बन गए हैं। वे सब दल देश में अशान्ति, राज्य में अव्यवस्था और समाज में सन्देह और गड़बड़ी का वातावरण बनाए रखते हैं। इससे ये गणतन्त्र ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, पनपते

नहीं क्षीण होते जाते हैं, यही कारण है कि इनका सदैव परिणाम यही हुआ कि युद्ध और पराजय और उसके बाद साम्राज्य संगठन।

इन गुटों से हमारी कांग्रेसी सरकार घिर गई है। उनके विरोधों का अन्त नहीं है। जो लोग राज्य-शासन चलाने में सहयोग देने की शपथ लेकर पार्लमैण्ट में आए हैं, वे बात-बात पर रोड़े अटकाते हैं, चलती नाव पर पत्थर मारते हैं, अपने अधिकार, अपना पद अपना मतलब साध लेने की सबको पड़ी है।

कांग्रेसी इस 'गणतन्त्र' को 'जनतन्त्र' का रूप नहीं दे सकते। क्योंकि वे राष्ट्रवादी हैं, देशभक्त हैं, मनुष्य भक्त नहीं। वे देश और राष्ट्र के लिये मनुष्यों को कट मरने की सलाह दे सकते हैं। मनुष्य के लिए देश और राष्ट्र को लात नहीं मार सकते।

समाजवादी भी 'जनतन्त्र' नहीं ला सकते। वे मनुष्य को नहीं उसके चरणों को जकड़े बैठे हैं। उनकी दशा उस गुरु के दो चेलों के समान है जो गुरु के पैर दबा रहे थे। और गुरुजी के करवट बदलने पर एक पैर दूसरे पर आ जाने से पैरों पर डंडे बरसाते थे। कि उस चेले का पैर मेरे पैर पर क्यों आ गया। गुरुजी चिल्ला रहे थे—कम्बख्तों ये दोनों मेरे पैर हैं, डंडे क्यों मारते हो, चोट तो मुझे लगती है, पर वे अपनी धुन में थे।

ये साम्यवादी और वे समाजवादी सिर्फ पीड़ितों की हिमायत लेते हैं। उन्हें विद्रोह करना, झंझट करना सिखाते है। उनकी सारी नीति हिंसा और प्रतिहिंसा पर आधारित है। वे सबको समान बनाना चाहते हैं, पर प्रेम-सौहार्द विश्वास और सहयोग से नहीं, डंडे के बल पर, मारपीट कर। ऐसा न कभी हुआ न होगा। रूस की सफलता को ये आदर्श मानते हैं। पर अभी तेल देखो तेल की धार देखो। यह सफलता कितने रक्तपात—कितने हत्याकाण्ड कितने विप्लव से मिली हैं। और अभी इसका ओर छोर क्या है? फिर, जहाँ 'डिक्टेटर' का अभंग शासन है, वह जनतन्त्र कैसा?

जनतन्त्र तो वह—जिसमें जन जन में शक्ति है, सहयोग हो, विश्वास हो, आसक्ति हो, अपनापन हो, गहरी एकता हो। जन जन का जन जन के प्रति त्याग का चरम ध्येय हो।

१३

'साहित्य' दिमाग़ी दुराचार

साहित्य कला का चरम-विकास है और समाज का मेरुदण्ड। धर्म और राजनीति का वह प्राण है, इसलिए उसमें दो गुण होने अनिवार्य हैं, एक यह कि वह आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करे और दूसरे वह मानवता के धरातल को ऊँचा करे।

सामर्थ्यवाद प्रतिनिधित्व काल जैसे जगत के सब तत्त्वों को दूषित करता है, उसी भाँति उसने साहित्य को दूषित किया है। इसी से साहित्य ने मानव आत्मा का हनन किया, उसी भाँति, जैसे विज्ञान ने मानव प्राणों का। और, यही कारण है कि साहित्य और विज्ञान के इस उदग्रीव युग में मानव भौतिक और अधिभौतिक विभूतियों का सर्वाधिक रहस्य विज्ञ होने पर भी अपने चिर जीवन में आज सर्वाधिक असहाय और भयभीत है।

साहित्य और विज्ञान ही उसे अभय दान कर आधारित कर सकते हैं, यदि वह अपना लक्ष्य मानवता के धरातल को ऊँचा करना बना ले।

'मानव' विश्व का सबसे बड़ा इकाई है, परन्तु साहित्यकार मानव नहीं है, क्योंकि वह अतिमानवों का निर्माण करता है, वास्तव में साहित्यकार महामानव हैं, इसलिए उसका कोई अपना देश-धर्म जाति-समाज और स्वार्थ नहीं है, और सबके प्रति उसका कोई कर्तव्य नहीं है। उसका काम है निरन्तर अतिमानवों का निर्माण करना और मानव आदर्श के लक्ष्य-विन्दु पर उनको स्थापित करना। यह करने पर ही वह मानवता के धरातल को ऊँचा करने में समर्थ हो सकता है।

अब तक संसार के साहित्य में इस-रहस्य, धर्म, राजनीति और प्रगति

का समावेश रहा। ये सब मानव समय-समय पर अपने-अपने कारणों से साहित्य में समाविष्ठ होते रहे। परन्तु आज उनका समय व्यतीत हो चुका। आज के सामने अब तक की सम्पूर्ण साहित्य सभ्यता बच्चों के टूटे-फूटे पुराने खिलौनों के समान हो गई।

विगत ३६ वर्षों का काल विश्व के मानव इतिहास में क्रान्ति का युग है, इस युग में मनुष्य ने अपनी अपरिसीम भौतिक सत्ताओं एवं अधिकारों का प्रदर्शन किया। इसी युग में भारत सहस्राब्दियों बाद विश्व-संघ में अपनी एक सत्ता निर्माण करने की सीमा तक पहुँचा। इसी युग में विश्व की सम्पूर्ण जातियों ने सार्वभौम सहयोग की बौद्धिक प्रतिक्रियाओं पर विचार करना प्रारम्भ किया। इस युग में राजनीति, रणपाण्डित्य, अर्थशास्त्र, और मानवीय सत्ता के ऐसे प्रयोग हुए जो आज तक मनुष्य ने नहीं देखे थे।

महाकाल की गति अति विषम है। वह घड़ी के काँटे की भाँति ठीक नपी तुली गति से नहीं चलती। कभी अति मन्द हो जाती है और कभी अति भीषण तीव्रगति धारण कर लेती है। उसी के प्रभाव से व्यक्ति की भाँति जातियों को जीवन का एक-एक वर्ष कभी-कभी सौ वर्ष के समान भारी हो जाता है, और कभी हँसते-खेलते बात की बात में शताब्दियाँ बीत जाती हैं।

संसार के ये ३६ वर्ष बड़ी तेजी से बीते हैं, इस काल में जो घटनाएँ घटित हुई हैं उनका संसार के मनुष्यों के सांस्कृतिक जीवन पर कैसा प्रभाव पड़ेगा यह भी नहीं कहा जा सकता।

संसार की घटनाओं का सच्चा प्रतिबिम्ब साहित्य ही है। बाहरी दुनियाँ में जीवन का जो प्रवाह बह रहा है—मानव हृदय की विचार धारा उसी की प्रतिध्वनि है, यह प्रतिध्वनि ही साहित्य है। जीवन का जो अनन्त प्रवाह बह रहा है उसका मूल स्रोत एक अनिर्वचनीय आनन्द है, यह आनन्द एक कणमात्र जब संस्कार भावित हृदय को छू जाता है तब उसके हृदय की वीणा का कोई तार बज उठता है, उसी से साहित्य की रचना

होती है। साहित्य सृजक में अधिक रस तब उत्पन्न होता है जब मानव हृदय पीड़ा नन्द की अनुभूति करता है। परन्तु 'पीड़ानन्द' दुर्धर्ष पदार्थ है वह किसी को प्राप्त नहीं है, केवल उच्च और भावुक हृदय ही पीड़ानन्द की अनुभूति करवाते हैं इस अनुभूति से ओत-प्रोत होकर कोमल तर भावों का हृदय में उदय होता है, जिसे इन्द्रिय गोचरकर मानव-जनपद युग-युग तक आघायित रहता है।

इस प्रकार जीवन में प्रतिघात से जो आवेग मानव हृदय में उत्पन्न होता है उसका विभासिक रूप ही साहित्य है। वह साहित्य किसी की व्यक्तिगत सम्पति नहीं है। साहित्य का रचने वाला उसका निर्माता नहीं है, रचयिता का हृदय तो एक वंशी है, विश्व का निःश्वास उसमें हूक मारता है और वह बज उठती है। रचयिता का उसमें कौशल अवश्य है। इस प्रकार साहित्य मानव हृदय और मानव-चरित्र की सही रेखाएँ हैं। इस साहित्य से मानव की ज्ञान शक्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है।

मानव हृदय भावनाओं का क्षेत्र है, भावनाओं की ही प्राप्ति क्रिया से मनुष्य का मनुष्य से सम्मेलन होता हैं। भावनाओं के भार की दूसरे जनों में वोट देने के लिए मनुष्य सदैव दूसरे लोगों के मन को ढूँढता रहता है। चूँकि ये भावनाएँ मनुष्य की सामाजिक भावनाएँ हैं—वे उसे अकेला नहीं रहने देतीं, चुप भी नहीं बैठने देतीं, उन्हीं भावनाओं से प्रताड़ित होकर मनुष्य बोलता-बकता लड़ता-झगड़ता गाता-हँसता रोता-विलाप करता, काव्य कहानी उपन्यास रचता, मूर्ति-चित्र बनाता, और न जाने क्या-क्या करने न करने के काम करता है।

वही सब समष्टीरूप से साहित्य है, यह साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसका पुनीत गंगा में स्नान करके कोटि-कोटि मानव हृदय चिरकाल तक पाप ताप से रहित होकर निर्मल और सबल होते रहें। उन्हें स्थायी आत्म-भोजन मिलता रहे।

साहित्यकार का हृदय कोई फोटोग्राफी का कैमरा नहीं है वह तो स्फुरण-

शील, जीवनमय, जाग्रत-आलोकित प्रतिभा की प्रभा से जगमगाता हुआ कल्पना का महाप्राङ्गण है, उसमें भूत भविष्य और वर्तमान का जनपद जीता, मरता और संघर्ष करता है। साहित्यकार केवल विश्व के इस संघर्ष को देखता ही नहीं है उस संघर्ष की धारा की गति भी देता है, वह जनपद का गुरु और पथप्रदर्शक है। इसलिये उसका यह कर्तव्य है कि वह सावधानी से मानव-जनमद को तमोगुण और रजोगुण बहुल प्रकृति से उभार कर सतोगुण के दिव्य तेज से प्रकाशित विचार संसार में ले जाय।

परन्तु ऐसा बहुत कम हुआ है। साहित्य की सारी ही सम्पदा 'रस' है। लोकोत्तर आनन्द ही 'रस कहाता है। रक्तपात के भयानक दृश्य देखकर जब हमारा हृदय काँप उठता है तब 'बीभत्स रस' की उत्पत्ति होती है। उसके बाद जब भ्रम या कुत्सा के वश होकर निर्गृह व्यक्ति की हत्या होती है तब—आहत जन के लिए मन में सहानुभूति उदय होती है तब 'करुण रस' उत्पन्न होता है, दुर्वासनाएँ कैसा भीषण रूप धारण करती हैं और उनका अंत विनाश के बिन्दु पर होता है 'विभोगान्त' रचनाएँ यही दिखाती हैं। महाभारत और रामायण में राम और युधिष्ठिर के चरित्र दुरवस्थाओं में से विकसित होते दिखाए गए हैं। चरित्र के उस विश्वास से ही वहाँ 'शांतरस' प्रकट हुआ है। सेक्सपियर के नाटकों में योरोप की कठोर जातियों के निर्मम भाव व्यक्त किए गए हैं, 'ओथेलो' में एक क्रूर पति एकान्त रात्रि में अपने पौरुष और विवेक की सारी सत्ता खोकर अपनी कोमल भावुक और सुन्दरी पत्नी का केवल संदेह के आधार पर गला घोंटकर मार डालता है। इस निर्मम हत्याकाण्ड को चुपचाप योरोप की जातियाँ जो देखती रहती हैं, इससे हमें योरोप की जातियों के उस निष्ठुर स्वभाव का पता लगता है जिसका स्वरूप हम वैण्डल, गाथ, आदि प्राचीन जातियों के इतिहास में थे, स्पार्टा और रोमनों के ग्लेडिएटर के मेलों में कूमेड के रक्तपान और इन्क्विजिशन के नर-रक्तपात में देखते हैं। अंग्रेजों और स्काटों के रक्त भरे इतिहास के पृष्ठ, फ्रांस की रक्तक्रान्ति और प्रोटेस्टेन्ट्स तथा रोमन के बलियों

की धर्म हत्याएँ तथा सोम की अमेरिका विजय की खून-खराबियाँ इस बात का प्रमाण है कि योरोप की जातियों का निर्माण क्रूर उपकरणों से हुआ है इसी से उनके साहित्य में हम रक्तपात बहुत पाते हैं।

यदि आप मिल्टन और व्यास की तुलना करें तो आप देखेंगे कि मिल्टन ने कुत्सा को ही विजय दिलाई है, जब कि व्यास निष्ठा पर संकेत करता है। अर्जुन और भीम बड़े बली हैं, उनमें बड़ा सामरिक शौर्य है, दुर्योधन उनकी उपेक्षा बल-अधिकार और उद्दात्तगुणों में बढ़ा-चढ़ा है, परन्तु जो निष्ठा भीम में है वह दुर्योधन में नहीं, जो अर्जुन में है वह कर्ण में नहीं। निष्ठा ही के बल पर भीम और अर्जुन अपने प्रबल प्रतिद्वन्दी कर्ण और दुर्योधन को पराग्त करते हैं। भीष्म और अभिमन्यु का उदाहरण और भी दर्शनीय है। जिस प्रकार भीष्म अकेले सम्पूर्ण पाण्डवों के प्रतिद्वन्दी हैं उसी प्रकार बालक अभिमन्यु सम्पूर्ण कौरव दल का प्रतिद्वन्दी है। उस कोमल सुकुमार शिशु में वह अजेय महाशक्ति नहीं है जो भीष्म के अकेले व्यक्तित्व में है, इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण कुरु दल की सामर्थ्य भी पाण्डवों के सामर्थ्य के सामने बहुत भारी है, भीष्म और अभिमन्यु दोनों ही रणाङ्गण में मारे जाते हैं, पर निष्ठा का पलड़ा भीष्म की अपेक्षा अभिमन्यु ही के पक्ष में भारी पड़ा है।

बाल्मीकि तो व्यास से बहुत बढ़ गए हैं। उन्होंने सफलता पूर्वक केवल निष्ठा ही के बल पर 'मानव' में 'देवत्व' का आरोप करने में सफलता पाई है। उनके राम अकेले ही रामायण के नायक हैं। वीरत्व के सम्पूर्ण अंग उनमें अकेले व्यक्तित्व में पूर्ण विकसित हुए हैं। युधिष्ठिर का गौरव, अर्जुन का शौर्य, भीम का साहस, कृष्ण का तेज, एक साथ ही उनके अकेले व्यक्तित्व में समा गया है, फिर भी उनमें युधिष्ठिर की राज्य-लिप्सा नहीं है। वे कर्तव्य-पथ के पथिक धैर्य, तप और तेज की ज्वलन्त मूर्ति हैं। शक्ति और धैर्य एवं निष्ठा के महासंगम ने ही उन्हें 'देवत्व' प्रदान किया है।

'मानव' में देवत्व का आरोप करना साहित्य का चरम ध्येय है। मानव

के शरीर में 'मानवता के साथ-साथ देवत्व और पशुत्व के भी बीज हैं' 'पशुत्व' उसमें कम नहीं हैं। उसी पशुत्व से मानव को पृथक् करके मानवता में देवत्व की अभिव्यक्ति करना साहित्य का श्रेष्ठ कर्म है।

परन्तु आज का साहित्यकार इस आदर्श से भ्रष्ट हो गया है। वह अपनी गहरी वासना में डूब गया है। और आज का हमारा साहित्य हमारी भूखी वासनाओं का—भोग लिप्सा का नंगा प्रदर्शन है। यदि आप शृङ्गार रस पर दृष्टि डालें—नखशिख वर्णन पढ़ें, तो आप देखेंगे कि इस साहित्यिक जनों ने अपनी ही बहन बेटियों को नग्न करके अपनी कुत्सा और अश्लीलता का परिचय दिया है।

वीर रस के नाम पर मार-काट हत्याकाण्ड के निर्मम आदर्श उपस्थित किए हैं, परन्तु सच्चा साहित्यकार मिथ्या बकवाद नहीं करता। उसकी मनोवृत्तियों का अन्तर्वेग, मानवलोक-संसार उसके प्राङ्गण में फैले हुए वन, पर्वत, नदी, जङ्गल, नगर, नागरिक, दरिद्र, धनी, जीवन, मृत्यु, हास्य और रुदन को देखता है। उसी की प्रतिध्वनि उसका साहित्य है। यह प्रतिध्वनि जितनी सत्य होगी उतनी ही शाश्वत और चिरायु होगी। सच्चा साहित्यकार वह है जो विचारों को मूर्त करे, संस्कृति को मूर्त करे, आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करे, जो साहित्यकार ऐसा करता है वह अपने काल और उस काल के बाद के मनुष्यों का नेता है। वह मनुष्यत्व का प्रतिनिधि है, वह मनुष्यों के आदर्श का विचार करके 'अतिमानवों' का निर्माण करता है, और अपनी नाद-ध्वनि के संकेत पर कोटि-कोटि नरसमूहों को उसी लक्ष्य-बिन्दु पर केन्द्रित करता है। वही सच्चा साहित्यकार है।

१४

'मनुष्य' गांधी का अपूजित देवता

गान्धी ने इस युग में एक नये देवता को जन्म दिया। उसकी पूजा प्रतिष्ठा की स्थापना में गांधी मर मिटे पर गांधी का यह देवता नहीं पूजा गया। गांधी मर गए। उनका यह पूजित सुना देवता राह में दुनिया की ठोकरों में पड़ा है, भूखा-नंगा, घायल, खून से लतपत, आँसुओं और गन्दगी से भरा हुआ। दुनियाँ इसकी छाती पर पैर रखे अपना राह चली जा रही है, उसे कुचलती हुई, ठुकराती हुई। उपेक्षा, अवज्ञा और घृणा से देखती हुई। गांधी का यह देवता 'मनुष्य' है।

गांधी को मार डाला एक हिन्दू ने। वह हिन्दू ब्राह्मण था। एक तो हिन्दू फिर ब्राह्मण उसमें दो-दो घातक और मानव विरोधी तत्त्व एकत्र हो गए। उसने निर्मम होकर गान्धी की छाती को गोलियों से छेद डाला, उसके बुढ़ापे को नहीं देखा, उसके सीधेपन की परवाह न की, उसके संतपन से वह प्रभावित नहीं हुआ। उसने पिस्तौल उठाया और उसे ढेर कर दिया एक हिन्दू और ब्राह्मण के हाथों गांधी की इस हत्या में एक धर्मपरम्परा थी। उसी की चर्चा मैं यहाँ करूँगा।

यह तो मैं कह ही चुका हूँ, कि आर्यों का प्राचीनगण मानवीय समानता का कट्टर शत्रु था। उसमें सर्वश्रेष्ट ब्राह्मण थे, जिनके सात खून माफ थे। हत्या करने पर जिन्हें मृत्यु दण्ड नहीं दिया जाता था। व्यभिचार करने पर जिनके पैर पूजे जाते थे। जिनके सारे राज-कर माफ थे जो मूर्ख होने पर भी सर्वश्रेष्ठ होने का स्थायी अधिकार रखते थे। जिनकी कृपा स्वीकृति और सहायता के बिना कोई व्यक्ति आर्यों के गणों में किसी हालत में नहीं रह

सकता था। इन्हें सबकी लड़कियाँ ब्याह लेने, मोल खरीदने, रखेली रखने का हक प्राप्त था, सबका धन हरण कर लेने का हक प्राप्त था। ये ईश्वर के प्रतिनिधि जन्म-जात पवित्रतम पुरुष थे।

क्षत्रिय इनके बाद थे। इन्हें छोड़ शेष जनता पर उन्हें भी वे अधिकार प्राप्त थे जो इन्हें सब पर थे। ये क्षत्रिय इन ब्राह्मणों को सिर पर लेकर नाचते इन्हें सब राजदण्डों और करों से मुक्त करते और अपनी लूट-खसोट का बहुत-सा भाग इन्हें देते रहते थे। और ये उनके बदले में इन राजाओं की सर्वशक्तिमत्ता के ढोल पीटते, उन्हें ईश्वर का प्रतिनिधि बताते और उनकी आज्ञाकारिता में चुपचाप बने रहने का उपदेश सर्वसाधारण को देते रहते थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि आर्यों के गणों में दासों, वर्ण शंकरों, शूद्रों और दुर्दशाग्रस्त लोगों की भरमार हो गई। सर्वसाधारण की कमाई में ब्राह्मण और क्षत्रिय खाते, उनकी युवती लड़कियों को ये भोगते और उनके तरुणों को अपनी स्वेच्छाचारी आज्ञा के आधीन निरर्थक युद्धों में कटवा डालते थे। अनार्यों, दासों, वर्ण शंकरों को इन्होंने कभी समान अधिकार नहीं दिया। इस प्रकार वर्गों में मानव समाज को बाँट डाला। इस प्रकार आर्यों का गण युद्धों और योद्धाओं का गण आदि से अन्त तक बना रहा। विष्णु, सूर्य, इन्द्र आदि सदैव असुरों और अनार्यों से युद्ध करते रहे। विष्णु ने दैत्यों को छलबल से परास्त कर काश्यप सागर तट उनसे छीन लिया—इसी प्रकार इन्द्र ने दासों के प्रतापी राज्यों को विध्वंस कर सप्त सिन्धु पर अपना अधिकार जमा लिया। उसने ४० वर्ष तक शम्बर से युद्ध किए। दाश राज्य के प्रसिद्ध युद्ध में उसने भाग लिया। इसके बाद बहुत उत्तरकाल तक आर्यों का इतिहास साम्राज्यों, राज्यसूयों, अश्वमेधों के लिए किए गए दिग्विजयों और युद्धों से भरा हुआ है।

महाभारत के बाद आर्यों का पतन प्रारम्भ हुआ और मिश्रित वर्ण का उदय हुआ—इसके बाद ही वैदिक धर्म के विरुद्ध बौद्धों और जैनों ने धर्म

क्रान्ति कर डाली। उस काल में भारत में यज्ञ-यागों का बड़ा प्रचार था। सर्वसाधारण इन यज्ञों से घोर घृणा करते थे। राजा और उनके ब्राह्मण पुरोहित के आदमी जबर्दस्ती किसानों से उनके उपयोगी पशुओं, गाय, बैलों को छीन लाते थे और उनका यज्ञभूमि में बध कर डालते थे। दासों कृषकों को कंगार भुगतनी पड़ती थी। इसका एक छोटा-सा उदाहरण बौद्धों के कोसल संयुक्त में दिया गया है—"बुद्ध भगवान श्रावस्ती में रहते थे। उस समय कोशल राजा पयेनदि का महायज्ञ आरम्भ हुआ। पाँच सौ बैल, पाँच सौ बछड़े, पाँच सौ बछिया, पाँच सौ बकरी और पाँच सौ भेड़ यज्ञ के लिए यूप-स्तम्भों में बँधे थे। राजा के पास—बेगारी कृषक दण्ड भय से भय-भीत रोते हुए यह कार्य कर रहे थे। यह देख भिक्षुओं ने भगवान को इसकी सूचना दी।

तब भगवान ने कहा—अश्वमेध, नरमेध, सम्यकपाश, वाजपेय और निरर्गलयाज बहुत खर्चीले हैं, पर महा फलदायक नहीं। जिस यज्ञ में भेड़, बकर, गाय, बैल आदि प्राणी मारे जाँय, उसमें सन्त महर्षि नहीं जाते।

ब्राह्मणों और आरण्यकों के रचना काल में जो अपना प्रमुख आर्यों के वर्ग पर स्थापित किया उससे साधारण जनता के हितों की बहुत उपेक्षा हुई, वे क्षत्रियों से निरुपाय हो कुछ दबते थे। पर वैश्यों और शूद्रों को तो कुचलते ही रहते थे। जिस राजा के यहाँ या गृहस्थ के यहाँ पुरोहित न जाय उसका अन्न देवता नहीं खाते। इसलिए राजा और गृहस्थ बड़ी-बड़ी दक्षिणा देकर और भारी आधीनता प्रकट करके ब्राह्मणों को पुरोहित बनाते थे। पुरोहित के द्वारा वह उसे स्वर्ग ले जाने वाली अग्नि प्राप्त करता था—अग्नि को तृप्त करके उसका क्षात्र तेज-बल और राष्ट्र बढ़ता था, पर पुरोहित न रहने से उसका सब कुछ नष्ट हो जाता था—वह स्वर्ग से भी पतित हो जाता था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि ब्राह्मण की वाणी, पाद, चर्म, हृदय तथा लिङ्गेन्द्रिय में पंच क्रोधाग्नि निवास करती है, उन्हें अभ्यर्थना से, पाद्य से, वस्त्रालंकार से, धन और उपयोग के लिए दासियाँ और रानियाँ

की छूट देने से शान्त करना पड़ता है। इससे राजा का राज्य दृढ़ होता है। शतपथ में तो ब्राह्मणों को देवता कहा गया है। ब्राह्मणों और क्षत्रियों का तो गठ जोड़ा था ही, वैश्यों को तरुण्य ब्राह्मण में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का भक्ष्य कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण कहता है वैश्य गप्पा है ब्रह्म और क्षत्र से दबा हुआ, उसे कितना भी खाया जाय वह कभी न काटेगा। अब जहाँ वैश्यों की यह दशा वहाँ शूद्र को क्या पूछना। उसके लिए न देवता न अग्नि। इसलिए वह अन्य जाति के पैर धोवे। एतरेय ब्राह्मण तो कहता है उसे सदा इधर-उधर दौड़ाये, जब जो चाहे गर्दनिया देकर निकाल दे, जब चाहे ताड़न करे या मार भी डाले। आप स्तम्ब का कहना है, उसे दान करने और बेचने का भी ब्राह्मण क्षत्रिय को अधिकार है। कात्यायन श्री तथा आपस्तम्ब श्री तो यहाँ तक कहते हैं कि शूद्र चलता फिरता श्मशान है उसके इतने समीप अध्ययन न करे कि वह सुन ले। यदि वह जान-बूझकर वेद सुन ले तो लाह या शीशा गला कर उसके कान में डाल दे।

यह तो केवल आर्यवर्णोंका ही परस्पर का व्यवहार रहा। आर्येतरों के साथ का व्यवहार तो आर्यों का और भी गर्हित रहा। जिन पूर्ववर्ती भारतीय जातियों को आर्यों ने जय किया उनकी बड़ी ऊँची संस्कृति थी, परन्तु विजित होने के कारण वे सब दास बना डाले गये। कभी 'दास' एक समुन्नत जाति थी वह अब गुलामों के अर्थ में व्यवहृत होने लगी। इसी प्रकार जिस प्रकार इन ऊँची मूँछें रखने वाले आर्यों को मुसलमानों ने काफिर-गुलाम और अंग्रेजों ने 'काला आदमी बना डाला। ऐसा होता ही है, विजय मद से अन्धे लोग जातियों से समानता का व्यवहार नहीं कर सकते। आर्यों ने भी धन, सत्ता, मान और पवित्रता अपने लिए सुरक्षित रखकर तीन चतुर्थांश प्रजा पर, शूद्र धर्म और दास धर्म लाद दिया। वैदिकयज्ञों ने और धर्म कल्पना ने इस काम में बड़ी मदद की। शूद्रा के हाथ का दुहा दूध तक यज्ञ में काम नहीं लाया जाता था। वैदिकेतर प्रजा कृषि, शिल्प आदि व्यवहारों में कुशल थी। कृषि और शिल्प अच्छे लाभकारी धन्धे थे, पर इनके करने

वालों के हिस्से में लाभ का बहुत कम हिस्सा आता था। वैदिक आर्य कठोरता पूर्वक इन शूद्रों के व्यवसाय के लाभ का बड़ा भाग हड़प लेते थे। वे ब्याज, मुनाफा, और लगान उनसे उच्चवर्णी आर्यों की अपेक्षा अधिक लेते थे। शूद्रों से वार्षिक २० प्रतिशत तक ब्याज और लगान लेने का आर्यों को अधिकार था। इन सब कारणों से आर्येतर गहरी सामाजिक दासता में फँसते चले गए। इस प्रकार यदि ईमानदारी से देखा जाय तो वैदिक आर्यों की समाज संस्था का महत्त्वपूर्ण भाग ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और शूद्रों की दासता है।

परन्तु एक ऐसा भी समय आया जब ब्राह्मणों और क्षत्रियों का गुट फूट गया। क्षत्रिय राजन्य बड़े या ब्राह्मण इस विषय पर गहरा विवाद उठ खड़ा हुआ। कुछ राजन्य ब्राह्मणत्व का हक मांगने लगे जिसे ब्राह्मण देने को तैयार न थे। इसी मुद्दे पर विश्वामित्र और वशिष्ठ के खूनी झगड़े हुए। कुछ राजन्यों ने ब्राह्मणों को दूसरों की अपेक्षा मिले अधिकार जब्त कर लिए। राजा पुरूरवा, नहुष, वेन, हैहय, सहस्रार्जुन, वैतहव्य, सृञ्जय आदि प्रतापी राजाओं ने ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व के विरुद्ध लड़ाई ठान दी। वेन ने यज्ञ और दक्षिणा का घोर विरोध किया। ब्राह्मणों के सारे कर माफ थे इसके विरुद्ध हैहय और वेतहव्य राजाओं ने झगड़ा किया। वे जबर्दस्ती ब्राह्मणों की गाएँ कुर्क कर ले गए, परशुराम ने ब्राह्मणों के इस एकाधिकार के लिए घनघोर युद्ध किया। परन्तु ब्राह्मण कुल और क्षत्रिय कुल के झगड़ों का निपटारा महाभारत युद्ध में हुआ, जिसमें सब क्षत्रियों का विनाश हो गया और पुरोहितों ब्राह्मणों का प्रभुत्व फिर से जमकर बैठ गया। परन्तु आर्यों की समाज रचना में जो दोष उत्पन्न हो गए थे, उससे आर्यसमाज में जीर्णता के चिन्ह दीख पड़ने लगे। विचार सम्पन्न लोगों ने पुरानी परम्परा से प्रथक नए विचार उत्पन्न किए, उपनिषद् दर्शन कल्प सूत्र, धर्मसूत्र रचे, वैराग्य परिव्रज्या और अरण्यवास का महत्त्व बढ़ा। और अन्त में वैष्णव, शैव, बौद्ध और जैन धर्मों की स्थापना हुई। वैदिक समाज

की अपेक्षा इन नए संगठन में विशेषता यह थी कि इसमें सब मनुष्यों के लिए श्रेय का मार्ग खुल गया। किसी भी जाति-कुल-देश का कोई भी उच्च नीच, पतित उन्नत मनुष्य शुद्ध होकर परम पदवी पा सकता था। इन विश्वधर्मों ने पहिले वैदिक आर्यों के विरुद्ध सिर उठाया पर पीछे जब वैदिक आर्यों ने ही उन्हें अंगीकार कर लिया तो इनका वैर विरोध शान्त हो गया। वैष्णव धर्म के वैदिक धर्म के मिल जाने पर भगवद्गीता तैयार हुई। और पौराणिक मत का प्रचार हुआ। काशी और विहार के संस्कृत वैदिकेतर मानव संघों में जैन और बौद्ध धर्म प्रकट हुए, ये संसार के सर्व प्रथम विश्व धर्म थे। इनके मत से सारे श्रेष्ठ कनिष्ठ मानव संयम से, नीति से, शुद्ध होकर निःश्रेयस के अधिकारी हो जाते हैं।

इन्होंने वेद, देव और यज्ञ इन तीनों पर आक्रमण किया। इसलिए कि इससे ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और उनकी ऊँच-नीच की सामाजिक पद्धति बदल जाय। इस नए आन्दोलन के प्रबल नेता बुद्ध थे। उनके शिष्यों में तपस्सु और मल्लिक वैश्य थे, उपाली नाई का काश्यप बन्धु जटाधारी थे, सारिपुत्र और मोगलान ब्राह्मण थे। आनन्द और देवदत्त क्षत्रिय थे, अम्बपाली वेश्या और चुन्द लुहार था। अजातशत्रु मगध का चक्रवर्ती राजा था, कोसल, कपिलवस्तु और वैशाली के राजकुल भी बुद्ध के शिष्य थे। इस प्रकार उसने सारे वर्गों के लोगों को एक पंक्ति में बैठा लिया। आगे तो बौद्धाचार्यों में चाण्डाल कुल के भी मुनि उत्पन्न हुए।

इन संस्थाओं का वैदिकों ने भारी विरोध किया। बहुत रक्तपात हुए। परन्तु बुद्धोत्तर काल में शीघ्र ही मौर्यसाम्राज्य का उदय हुआ। जिसमें अशोक ने बुद्ध धर्म को एशिया में फैला दिया। परन्तु मौर्यसाम्राज्य रोमन साम्राज्य की भाँति चिरस्थायी न रहा। इसी से जैसे रोमन साम्राज्य ने योरोप के बड़े भाग को एक छत्री राजसत्ता के नीचे लाकर एकेश्वरी विश्वधर्म ईसाइयत की स्थापना की, उस प्रकार मौर्य-साम्राज्य न कर सका। अशोक के बाद ही उसकी सत्ता बिखर गई। प्रथमित्र ब्राह्मण था जिसने राजसत्ता हथिया

ली। एक बार फिर ब्राह्मण धर्म का महत्त्व बढ़ा, पर ब्राह्मण अब प्राचीन वैदिक धर्म मर्यादा को फिर स्थापित न कर सके। नए पुराने की एक गठरी बन गई। इस बार फिर ब्राह्मणों ने अर्थशास्त्रीय लौकिक कायदों का उल्लंघन किया, जिसकी स्थापना मौर्यों का गुरु चाणक्य कर गया था, उन्होंने श्रौत स्मार्त पौराणिक धर्म पारलौकिक आधारों पर स्थापित किया। उधर राजाश्रय पाकर बौद्ध और जैन संघों में दोष उत्पन्न हो गए, योग और चमत्कारों का प्रभाव बढ़ने लगा। अलहदी, आलसी, मुफ्तखोर, स्वच्छन्द, भिक्षुओं, सन्यासियों, तपसियों और मुनियों से देश भर गया। ये सब रुद्र गृहस्थों और राजाओं के दान पर गुलछर्रे उड़ाते और माल मलीदे खाते थे। इनकी दुरवस्था से ब्राह्मणों ने लाभ उठाया। वे सद्गृहस्थों के साथ रहते थे। उन्हीं व्रत, तीर्थ, उपवास, पूजास्थान, उपासना, देवता, विधि-विधान, कथा कल्पसूत्र सबको मिलाकर पौराणिक धर्म की रचना कर ली। इन पुराणों में उन्होंने आर्यों, आर्येतरों, शूद्रों, दासों, यतियों, परिव्राजकों, श्रमणों आदि की सबकी एक गठरी बाँध ली। व्रत, त्योहार, पूजा विधि और कथाओं में वैदिक मन्त्रों और कल्पनाओं का मिश्रण करके उच्च वर्णों का एक नया निराला कर्मकाण्ड तैयार कर लिया। और देव पूजा को नया रूप दिया। वर्णव्यवस्था को जाति का रूप दे दिया, और उसमें अपना सर्वोच्च स्थान रिज़र्व रखा। उपनिषदों के ब्रह्मवाद ने जो वैदिक देवताओं पर सन्देह किया था उस पर बादरायण के ब्रह्म सूत्रों का पर्दा डाल दिया। ब्रह्मवादी तर्क से ही वेद विरोधीजनों के देवताओं को अपने देवताओं की बिरादरी में मिला लिया, शीतला, चामुण्डा, काली, हनुमान, विनायक, नन्दी, भैरव, नाग, नवग्रह, बड़, पीपल आदि देवता जी उठे। लिङ्ग पूजा का वैदिक रुद्राध्याय से गठजोड़ा करके भारत के वैदिकेतरों के लिङ्ग-मन्दिरों के शूद्र पुरोहितों को हटाकर उनका पुजारी का पद स्वयं ग्रहण कर उन्हें शिवलिङ्ग घोषित कर दिया। वैदिकेतर सब देवताओं को अपनी छत्रछाया में लेकर वहाँ के अनार्य पुजारियों की गद्दी अपने हाथ में की। इस प्रकार

यह सबका मिलाजुला खिचड़ी हिन्दू धर्म निर्माण हुआ। श्रुति की कमी स्मृति और पुराणों से पूरी की।

इस हिन्दूधर्म की स्थापना के बाद बहुत राज्यक्रान्ति हुई। पर समाजसंस्था वैसी ही बनी रही। शक—हूण, यवन, आभीर आए और इस संस्था में घुस बैठे। परन्तु शिथिल राज्यसंस्था, अव्यवस्थित कारबार और पक्षपातपूर्ण स्मार्त क़ायदे क़ानूनों के कारण राजाओं, पुरोहतों अन्य देशी जातियाँ भी आ बसी थीं। उसने इन सब आर्य अनार्यों को एक ही धर्म और समाज में बल पूर्वक बाँधने की चेष्टा की। उसने तत्कालीन वेद का सम्पादन किया। परन्तु राम के द्वारा मारे जाने पर उसका राज्यसत्ता उसके वंश में न रही। परन्तु उसके बराबर पुलस्त्य ऋषि से अपना पैतृक संबंध कायम रख द्रविण ब्राह्मण बन गए। और रावण कृत वेद भाष्य जो कुछ विकृत रूप में अब कृष्ण यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है, को अपना धर्म ग्रन्थ बनाया। रावण से सायण तक द्रविणों की यही धर्म परम्परा रही। इस परम्परा में उत्तर भारतीय आर्यों वैदिक आर्यों की परंपरा से बहुत भेद था। इससे द्रविणों का उत्तर भारत के ब्राह्मणों से खान-पान जाति-व्यवहार अन्त तक कायम नहीं हो पाया। प्राचीन कुछ अनार्य जातियाँ लिङ्ग पूजक थीं। रावण भी लिङ्ग पूजक था—इसलिए परंपरा से द्रविणों में लिङ्ग पूजन प्रचालित रहा। कालान्तर में वही लिङ्ग पूजा 'शिवलिङ्ग' के रूप में शंकराचार्य ने परिणत कर दी। द्रविणों में इस वैदिक वामाचार का प्रभाव उनके सब पड़ोसी प्रान्तों तथा उड़ीसा, बंगाल, मध्यदेश, महाराष्ट्र आदि में फैल गया। इन द्रविणों में अफ्रीका के हट्टाइटों तथा मिश्र के असुरों का भी रक्त मिश्रित था। अतः केवल उनकी आकृत और रूप रंग ही नहीं संस्कृति भी बहुत कुछ उन देश वासियों के समान हो गई। ईसा की चौथी शताब्दी ही में लिङ्ग पूजन का महत्व पाशुपत दर्शन बनाकर हिन्दू आचारों में मिला लिया गया था। यह पाशुपत दर्शन बौद्ध और हिन्दू वामाचार का मिश्रण था। वाकाटक राजाओं के संबंधी भारशिव कहाते थे। वे अपने कंधे पर लिङ्ग लिए

घूमते थे। वाकाटक वंश के राजा द्वितीय इन्द्रसेन को चन्द्रगुप्त ने अपनी कन्या व्याह दी थी। इस प्रकार उस काल में गुप्त-भारशिव और वाकाटक ये तीन राज वंश लिङ्ग पूजन के समर्थक थे। सम्भवतः विभीषण को संतुष्ट करने और राक्षसों को अनुकूल रखने ही को राम को भी लिङ्ग पूजन करना पड़ा था। इस घटना का भी सम्पूर्ण आर्य जाति पर भारी प्रभाव पड़ा। पीछे सर्वत्र ही शैवविधि से लिङ्ग पूजन होने लगा। और द्रविणों की देखा-देखी अन्य ब्राह्मण भी लिङ्ग पुजारी बन गए। इन शैवों ने जैनों और बौद्धों पर काफी गजब ढाए। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दक्षिण के जैनों पर सुन्दरपाण्य राजा ने कहर ढाया। पहले यह राजा जैन धर्मी था पीछे उसकी पत्नी के शैव गुरू तिरुज्ञान सम्बंद ने उसे शैव धर्म में दीक्षित किया, इसके बाद उसने जैन गुरुओं का क़त्लेआम शुरू कर दिया और ८ जैन साधुओं का क्रूरम पूर्वक वध करवा डाला। जिसकी मूर्तियाँ अर्काट के तिरुवत्तूर मन्दिर की दीवारों पर खुदी हैं। राधवाचार्य कृतशंकर दिग्विजय में लिखा है कि उस समय के राजाओं का हुक्म था कि हिमालय से समुद्र पर्यन्त बसे हुए बौद्धों को जो तुरन्त न मार डाले उसे मृत्यु दण्ड दिया जाय।

यद्यपि जिस प्रकार जैनों और बौद्धों ने उत्तर भारत में वेद विरोधी संघ बनाये—वैसे ही दक्षिण में इन द्रविणों ने भी बनाए, परन्तु दो बातों का भेद रहा। उत्तर भारत के बौद्ध और जैन गुरुओं ने जात-पात ऊँच-नीच का भेद नष्ट करके मनुष्य मात्र को समान रूप से उनमें दर्जा दिया तथा वैदिक आर्यों की सारी धर्म और समाज की परंपराओं को त्याग दिया। इसके विरुद्ध इन द्रविणों ने अवैदिक लिङ्ग पूजन को वैदिक देवता रुद्र में आरोपित कर उसे शिवलिङ्ग बताया, अपना ब्राह्मणत्व और श्रेष्ठत्व कायम रखा। जिन नीच कुल के लोगों ने बौद्ध और जैन धर्म स्वीकार करके समाज में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था उनका कत्लआम करा डाला और नीच कुलोत्पन्न लोगों के प्रति ऐसा कठोर निष्ठुर अनुशासन स्थापित किया—कि वे न ब्राह्मणों के चलने की सड़क पर चल सकते थे, न राह में थूक

सकते थे, उन्हें चलने-चलते बाँस पीटकर या कोई चिह्न शरीर पर धारण करके यह घोषित करना पड़ता था कि वे नीच कुलोत्पन्न हैं, कोई ब्राह्मण धोखे से छू न जाय, उन्हें देखकर अपवित्र न हो जाय। शंकराचार्य ने उस शूद्र के लिए जो वेदपाठ सुन ले—कान में पिघला हुआ सीसा या लाह भर देने का दण्ड नियत किया।

सामन्तों और सेठों की सत्ता से दबे हुए सम्पत्ति के उत्पादक शिल्पी और किसान अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त हो रहे थे। उनकी दशा वही थी जो प्राचीन आर्यों की दासता में थी। इसी समय सातवीं शताब्दी में कुमारिल-भट्ट ने धर्मशास्त्र निर्णय की जो विशिष्ट पद्धति अपनाई उससे वह वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करना चाहते थे परन्तु शंकराचार्य के दिग्विजय ने उनकी मन की अभिलाषा पूरी न होने दी। शंकराचार्य बड़े प्रतिभा संपन्न थे। उन्होंने सब तत्त्व ज्ञान और विचार सम्प्रदाय बुद्धि की कसौटी पर कसे और सारे विचार मार्गों की बौद्धिक अग्रनिकता सिद्ध की। उन्होंने शैव वैष्णवों का एकेश्वर और सर्वेश्वरवाद, कणाद और नैयायिकों का परमाणुवाद, सोरकों का जड़ प्रकृतिवाद, बौद्धों का क्षणिकवाद, जैनों का अनेकान्तवाद, चरवीकों का देहात्मवाद योगियों का योगदर्शन सभी को अपने तर्क की कसौटी पर कसा और इस निर्णय पर पहुँचे कि आत्मा और पुनर्जन्म का बुद्धि से निर्णय नहीं हो सकता। उन्होंने कुमारिल के शब्द प्रामाण्य को अपनाया तो भी मानवीय विचार जीवन और विश्व संबंधी सत्य की खोज करते-करते श्रान्त हो गए अन्ततः वे मायावाद पर जा टकराये। उन्होंने देखा—वस्तु है यह भी नहीं कह सकते और नहीं है यह भी नहीं कह सकते—है भी और नहीं भी है, भी नहीं कह सकते। इसलिए उन्होंने कहा बस सब मिथ्या है, भ्रान्ति है। परन्तु विश्व का मिथ्यात्व बिना श्रुति के प्रामाण्य को माने सिद्ध नहीं किया जा सकता था, उन्होंने वेद के स्थान पर उपनिषद् को श्रुति मान लिया और उपनिषद् के इस शब्द प्रामाण्य पर कि ब्रह्म ही सत्य है, शंकराचार्य बोल उठे कि जगत मिथ्या है। शंकर के इस मायाजाल

ने हिन्दुओं की बुद्धि को एक चक्कर में डाल दिया। उपनिषद् को श्रुति मानकर उन्होंने गीता को स्मृति बनाया और बादरायण ब्रह्म सूत्र को दर्शन। इस प्रकार जैसे बौद्धों ने त्रिपिटक की स्थापना की थी उसी के जवाब में उन्होंने 'प्रस्थानत्रयी' को वेद विरोधी स्थापना की।

शंकर का यह प्रयास खूब फला। इसने हिन्दू धर्म में एक नई क्रान्ति-यह पैदा की—कि दक्षिण भारत जो कभी बहिष्कृत आर्यों, अनार्यों समागत आर्येतरों का देश था, हिन्दू धर्म का नेता बन गया। शंकर आठवीं शताब्दी में आए, उनके बाद ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुज, बारहवीं में माध्वाचार्य और निम्बार्क तथा पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य। कहना नहीं होगा ये दक्षिण के आचार्य सम्पूर्ण हिन्दू धर्म के नेता हो गए।

परन्तु हमें दक्षिण के इन समागत हिन्दुओं के नेताओं की जातपाँत की छानबीन करनी पड़ेगी।

अत्यन्त प्राचीन काल में आर्यों में यह परिपाटी रही कि किसी भी कारण से जिस आर्य परिजन या शत्रु को देश बहिष्कृत करना आवश्यक समझा जाता था उन्हें दक्षिणारण्य में भेज दिया जाता था। शताब्दियों तक ऐसा होता रहा। इन बहिष्कृतों में बहुत से तो दक्षिण ही में बस गए और बहुत से दक्षिण मञ्चल में फैले द्वीप समूहों तक चले गए। एक दल आस्ट्रेलिया पहुँचा और उस देश पर अधिकार कर लिया। उन दिनों भौगोलिक परिस्थिति भी भिन्न थी। कालान्तर में पुलस्त्य ऋषि आस्ट्रेलिया गये। वहाँ के राजा तृणबिन्दु ने उन्हें अपनी पुत्री व्याह दी और वे वहीं आश्रम बनाकर रहने लगे। उनका पुत्र विश्रवा मुनि हुआ। विश्रवा को दो पत्नियाँ थीं—एक से कुबेर और दूसरी से रावण, कुम्भकरण आदि हुए। विश्रवा ने रावण को वेद पढ़ाया। युवा होने पर इसने साहसिक कार्य किए और अपने भाई कुबेर से लंका छीन ली तथा भारत के मद्रास और दक्षिण के बड़े अंश पर कब्जा कर लिया। वह जैसा योद्धा था वैसा ही पण्डित भी था। उस काल में दक्षिण में इन अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए उसी

नीच कुल में एक साहसी पुरुष दक्षिण में उत्पन्न हुआ। उसने अपना नाम 'शठकोपाचार्य रखा। अर्थात् शठ-बदमाश लोग जिन पर कुपित हैं उन सब का आचार्य। बड़ा सार्थक नाम था। अरब देश निवासी अलग्ज़ेंड्रिया विश्वविद्यालय का एक स्नातक उसकी सहायता के लिए आगे बढ़ा और इन लोगों ने स्मृति धर्म से पृथक बौद्ध और नवीन हिन्दुओं को मिला-जुला वैष्णव धर्म की नींव डाली। परन्तु ईसा की तीसरी शताब्दी में इस धर्म को इन द्रविणों ने अपना लिया। मद्रास के एक द्रविण ब्राह्मण विष्णु स्वामी ने इसे व्यवस्थित रूप दिया। ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य ने इसे प्रगति दी। ये रंगम् के पुजारी वंश में जन्में थे। संस्कृति के भारी पण्डित थे। उन्होंने ब्रह्म सूत्र पर भाष्य रचा और विशिष्टा द्वैत मत चलाया। उस समय कुलोतुङ्ग नामक चोल राजा रंगम की गद्दी पर था, उसे रामानुज का यह नया प्रयास पसन्द न हुआ—रामानुज उसके भय से रंगम छोड़कर भाग गया। कुलोतुङ्ग ने रामानुज के मित्र कुरत्तालवार को पकड़कर उसकी आँखें निकलवा डालीं। और जहाँ जो आदमी उसके सम्प्रदाय का मिला उस पर अत्याचार किया। रामानुज दस बरस मद्रास में रहकर वहाँ के राजा विट्टिदेव को अपना शिष्य बनाया और जैनों पर इतना अत्याचार किया कि उनका सिर तेलों की घानी में डालकर पीस दिए।

रामानुज के बाद निम्नांकित माधवाचार्य ने, फिर विष्णुस्वामी ने, फिर वल्लभाचार्य ने वैष्णवों की अपनी-अपनी शाखाएँ स्थापित कीं। चारों के दार्शनिक सिद्धान्त पृथक-पृथक थे। कोई द्वैत, कोई विशिष्टाद्वैत, कोई शुद्ध द्वैत कोई द्वैताद्वैत मानते थे। इस प्रकार शंकर के अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिस्पर्द्धी ये सम्प्रदाय रहे। और इन सबकी उत्पत्ति मद्रास प्रान्त के द्रविण ब्राह्मणों के घरों में हुई। अब यह तो आप देख ही चुके कि ये सम्प्रदायी कितने असहिष्णु, खूनी और अनुदार थे। ऐसी दशा में इनसे मनुष्य के प्रति समान और उदार व्यवहार करने की आशा कैसे की जा सकती थी।

अब यह बात यहीं रहे। जरा और बातों पर भी विचार कीजिए।

मसीह की लगभग तीसरी शताब्दी के अन्तिम चरण में कुछ बहिष्कृत यहूदी मिश्र से एक जलपोत पर निकले। भारतीय समुद्र के किनारे आते-आते पोत डूब गया। और उनमें से कुछ लोग बचकर मलाबार के पच्छिमी समुद्रतट पर बसे एक गाँव में आ पहुँचे तथा वहीं बस गए। गाँव में १४ अन्त्यज कुटुम्ब रहते थे। उनके पास ये लोग कौटुम्बिक रीति से मिलकर रहने लगे। बहुत दिनों बाद जब उनका वंश बहुत बढ़ गया तो वहाँ के तत्कालीन राजा ने उनसे पूछा कि तुम लोग कौन हो। इस पर उन्होंने कहा—हम इजिप्ट के निवासी मल्लाह हैं, मछली पकड़ना हमारा काम है। वे गौरवर्ण थे, नेत्र उनके सुन्दर थे। शरीर गठन उत्तम थी। परशुराम ने उनका नाम रखा—इजिप्तबान और उसने चिपलूण ग्राम में उन्हें भूमि देकर उनकी बस्ती बसा दी। यहाँ आकर उन्होंने अपनी स्थिति सुधारी और देश में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा हुई देख ब्राह्मणों के आचार पालन करने शुरू कर दिए संस्कृति और धर्म शास्त्रों को पढ़ने लगे। कालान्तर में द्रविणों ने उनसे व्यवहार संबंध जोड़ लिया और ये चित्पावन ब्राह्मण बन गए तथा इनकी गणना पंचद्रविणों में होने लगी।

परन्तु इनके हीनाचार और कुत्सित व्यवहार को देखकर दक्षिण के ब्राह्मणों ने बड़ा विरोध किया। और इस बात का निर्णय करने के लिए एक भारी सभा हुई। बहुत विवाद हुआ और यह घोषणा कर दी गई कि भरत खण्ड के ब्राह्मणों को इनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। परन्तु इनसे बेटी व्यवहार स्थापित हो चुका था—वे उनके समर्थक बन गए और इस प्रकार दक्षिण के ब्राह्मणों के दो दल बन गए—जो आदिकाल से थे वे देशस्थ और जो इनसे मिल गये थे वे कोकणस्थ कहलाने लगे। इन दोनों का रोटी बेटी व्यवहार परस्पर बन्द हो गया।

कोकणस्थ अपने समाज की उन्नति करते रहे। उन्नति होने का उन्हें सुअवसर मिल गया। शिवा जी ने जब दक्षिण में हिन्दू राज की स्थापना करनी चाही और छत्रपति की उपाधि ग्रहण कर राज्यारोहण करना चाहा

तब देशस्थ ब्राह्मणों ने कहा—आप शूद्र हैं इसलिए राजा नहीं हो सकते। परन्तु कोकणस्थों ने आगे बढ़कर शिवा जी की अभ्यर्थना की। उन्हें वेद-मन्त्रों से अभिसिक्त करके दक्षिण का राजा घोषित कर दिया। शिवा जी ने भी उन्हें राज्य में मन्त्री पद और सेनापति के पद दिए और दक्षिणांचल में शिवा जी का हिन्दू राज्य स्थापित होने पर उनकी मान मर्यादा बहुत बढ़ गई। उन्हें अपने हाथ पैर फैलाने के बड़े भारी अवसर मिले।

उन्होंने वेद की तैमिरीय शाखा को अपनाया। कृष्ण यजुर्वेद को अपना वेद स्वीकार किया और अपने मिश्र के रीति-रिवाजों और कायदों को हिन्दू धर्म पुस्तकों में घुसेड़ दिया। यह वह जमाना था जब नए ग्रन्थों को पहचाना और पुराणों में प्रक्षेप के भागों को पकड़ना कठिन था। इन्होंने वेद की प्रतियों में, स्मृतियों में, भाषा में बहुत से मनमाने मन्त्र बढ़ा दिए। चित्पावन ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं और सब भारतीय ब्राह्मण वर्ग उन्हीं से उत्पन्न हैं ऐसे श्लोक रचकर लिख दिए। शिवा जी की मृत्यु के बाद उनके पुत्र शम्भा जी को औरंगजेब ने मरवा डाला और पौत्र शाहू जी को कैद कर लिया। पीछे बहादुर शाह ने उसे मुक्त कर दिया। और वह अपने दादा की गद्दी पर जा बैठा। उसने बालाजी—विश्वनाथ नाम के एक चित्पावन ब्राह्मण को अपना प्रधान मन्त्री व प्रधान सेना पति बनाकर उसे पेशवा की उपाधि दी। पेशवा बनकर धीरे-धीरे राजसत्ता को बालाजी विश्वनाथ ने अपने हाथ में कर लिया। शाहू चिरकाल तक दिल्ली में नज़र बन्द रहने से कायर-विलासी और आलसी हो गया था। उससे कुछ प्रतिकार करते न बन पड़ा। और बालाजी ने उसे अवसर पाकर उपचार द्वारा मरवा डाला। तथा दक्षिण की समूची राज्यसत्ता हथिया बैठा। शाहू राजा निःसंतान मरा था, परन्तु उसकी विधवा शंकराबाई राज्य के वारिस बनने को एक दत्तक लेने की खटपट करने लगी। इस पर बाला जी ने उसे समझाया कि उसका ऐसा करना अधर्म और अनुचित है। पति व्रता स्त्री का धर्म पति की चिता पर सती होना है। इससे स्वर्ग में पति के साथ स्वर्ग का अनन्त सुखभोग करने को

मिलता है। शंकराबाई के लिये यह एक नई बात थी। उसने कहा—क्या पति की चिता पर जल मरने से स्वर्ग में पति मिल सकते हैं। इस पर बालाजी विश्वनाथ ने उस समय प्राप्त होने वाली समस्त हस्तलिखित धर्म पुस्तकों में सती धर्म की महिमा मूलक श्लोक लिखवा कर और देश-देश के पण्डाड़बाज पण्डितों को भारी-भारी दक्षिणा देकर दशरथ, पाण्डु, रावण, इन्द्रजीत, आदि के स्त्रियों ने किस प्रकार पति के साथ चिता पर जलकर स्वर्ग में पतिलोक पाया था—इसका खूब बढ़ा-चढ़ा महात्म्य सुनवा दिया। उन्होंने यह भी कहलाया कि यदि पति जल में डूबकर मर जाय, दूसरे गाँव में जाकर मर जाय, लापता मर जाय या उसकी लाश का पता न चले, या पति के मृत्यु के समय स्त्री सगर्भा हो तो समय आने पर पीछे भी सुभीते के साथ पति का खड़ाऊँ या कोई वस्त्र लेकर चिता रोहण करके वह स्वर्ग लोक में पति को प्राप्त होती है। इन उपदेशों से और धर्म शास्त्रों प्रमाणों से प्रभावित होकर बेचारी शोकदग्धा विधवा रानी शंकराबाई चिता रोहण के लिए तैयार हो गई। और बालाजी ने कृष्ण यजुर्वेद के तैमरीय आरण्यक ६।२० में आये हुए ऋग्वेद के मन्त्र में 'अग्रे' शब्द को 'अग्नेः' बनाकर वैदिक विनियोग से उस पतिव्रता राज महिषी को चिता में रखकर जिन्दा फूँक दिया।

इसके बाद राज सूत्र निष्कपट हाथ में आ गया। राजा शाहू की मृत्यु और रानी का सती होने की वार्ता चित्पावन के बड़े-बड़े माहात्म्य और प्रशंसा के साथ दक्षिण के घर-घर फैला दी गई। आज तक दक्षिण के ग्रामीण, पेशवा के इस कलंक गाथा को गाते हैं। चित्पावनों ने सती प्रथा को परम धर्म प्रचारित किया तथा पूना में मूलपूठा संगम पर सती होने का एक स्थान ही बनवा दिया और पेशवाओं के राज्यकाल में सदैव सती धर्म को उत्तेजना दी जाती रही। पूना में वहाँ जो सती होने की बाढ़ आई उससे एक बार वहाँ का अंग्रेज रेजीडेन्ट भी थर्रा उठा था।

पेशवाई काल में अप्पा साहब पटवर्धन और नीलकण्ठ शास्त्री ने जाली

ग्रन्थ रचना करने में बड़ा भाग लिया। जो हो आगे पेशवाओं का बड़ा दौर दौरा हुआ। बाला जी विश्वनाथ का पुत्र बाजीराव भारी राजनीतिज्ञ वीर और कर्मठ पुरुष था, उसने मराठा राज्य का भारी संगठन किया और सिन्धिया, होलकर, गायकवाड़, भोंसले चार मराठा राज्यों की स्थापना की ये राजा शूद्र थे। और पेशाओं के कृपा भाजन थे। राजनैतिक दृष्टि से भी और सांस्कृतिक दृष्टि से भी। इससे पेशवाओं का प्रताप सारे भारत पर छा गया। सिन्ध से लेकर कन्या कुमारी और बंगाल तक पेशवा का डंका बजने लगा। उनका गर्व भी बहुत बढ़ गया। मुगल तख्त उनकी ठोकरों से काँपने लगा—भारत के राजमुकुट उनके चरणों में झुक गए। दम्भ-स्वार्थ-विलास और अत्याचार करने में पेशवा अन्धे हो गये। अन्त में पानीपत के मैदान में उनके पापों का अन्त हुआ। दो लाख मराठे पानीपत के मैदान में सदा के लिए सो गए। खबर सुनकर पेशवा नर्वदा तट पर शोक से कातर होकर मर गया।

सत्तावन के विद्रोह के बाद मुगल तख्त चकनाचूर हो गया। अंग्रेजी राज्यसत्ता, अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी संस्कृति की लहर भारत में व्याप्त हो गई। अंग्रेजों ने जो 'देश' नाम का नया देवता लाकर भारत में प्रतिष्ठित किया, उसकी पूजा संपूर्ण उत्तर भारत के हिन्दू स्वामी दयानन्द, राजाराममोहन-राय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि के नेतृत्व में करने लगे। दक्षिण में यह देवता पहुँचा। परन्तु उत्तर में इस देवता ने जिस राष्ट्र संगठन का सूत्रपात किया, उससे दक्षिण का राष्ट्रगठन भिन्न था। उत्तर भारत के राष्ट्र कर्मियों ने मुसलमानों को अपना साथी बनाने की चेष्टा की थी। परन्तु दक्षिण के लोगों ने ऐसा नहीं किया। यद्यपि हिन्दू जात्याभिमान और धर्म आग्रह भारत में भी कम न था। पर वे परिस्थित को समझ गये थे। उनका राजनीतिक दृष्टि-कोण स्पष्ट था, वे मुसलमानों के सहवासी थे। उन्होंने मुसलमानों के हाथ से भारी कष्ट उठाए थे। परन्तु बीती बातों पर भावी लाभ नहीं छोड़े जा सकते थे। यद्यपि मुसलमान सही अर्थों में देशभक्त या राष्ट्र कर्मी कभी नहीं

बने—परन्तु वे अपनी सामाजिक भलाई और स्वार्थ के लिए राष्ट्रीय सभा कांग्रेस में शरीक हो गए थे। उनके विरोध भारी थे, परन्तु उत्तर भारत के राष्ट्रकर्मी सब विरोधी तत्त्वों को लाद-लूद कर आगे बढ़ रहे थे।

इस समय दक्षिण के नेता रानाडे गोखल और तिलक आदि थे। सभी देशभक्त थे। परन्तु इनमें हिन्दुत्व भावना उत्तर भारत के हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक थी। उन्होंने मुसलमानों के इतने अत्याचार नहीं सहे थे। न वे उनके उतने सहवासी थे। न उनके पड़ोस में वैसी मुस्लिम प्रतिक्रिया थी जैसी उत्तर भारत में। अतः वे जो देशभक्ति करते थे, राष्ट्र चिन्तन करते थे उनमें मुसलमानों को सम्मिलित करना उन्हें कत्तई पसंद न था। वे हिन्दुओं के लिए हिन्दुस्तान चाहते थे। वे किसी को साथी व साझीदार बनाना कतई नापसन्द करते थे। वे पेशवा और शिवा जी के राज्यों को भूले न थे। वे चाहते थे कि यदि अंग्रेज भारत से निकल जाँय तो भारत में हिन्दू राज्य की स्थापना पेशवाई आदर्शों पर की जाय। चित्पावन ब्राह्मणों ही के हाथ में इस आन्दोलन की सारी बागडोर थी। तिलक उनके क्रांतिकारी नेता थे। उन्होंने पेशवाओं के देवता 'गणपति' और मराठा राज्य के प्रतिष्ठाता शिवा जी के उत्सव महाराष्ट्र में प्रचलित किए। और उसी आधार शिला पर जनता को स्वाधीन होने के लिए उत्तेजित करने लगे। ठीक उसी प्रकार जैसे जिन्ना के नेतृत्व में मुसलमान संपूर्ण संसार की मुस्लिम जातियों में संगठित हो हिन्दुओं से विमुख हो रहे थे।

इसी बीच गांधी अपना नन्हा-सा देवता लेकर आगे बढ़े। भारतवर्ष उनकी जन्मभूमि थी और वे हिन्दू घर में जन्मे थे। भारतभूमि की राष्ट्रीय महा सभा कांग्रेस थी उसमें ९० प्रतिशत थे तो हिन्दू ही—परन्तु यह हिन्दू राष्ट्र का नहीं—भारतीय राष्ट्र का प्रतिनिधित्व कर रही थी। एक तो उसकी दृष्टि राष्ट्रीय थी, दूसरे वह राजनीतिक स्वार्थों को आगे रख रही थी, इससे अनुगामी सब हिन्दू, आर्य, सिख, जैन बौद्ध उसी में एकत्र हुए, आर्य समाजों के जोशीले प्लेटफार्म सूने हो गए और दूसरे साम्प्रदायिक संघ भी ढीले पड़

गए। सब जमातों के प्रमुख पुरुष राष्ट्रीय स्वार्थ में एकत्र हो कांग्रेस के झण्डे के नीचे आ जुटे। गांधी जी ने इसी दल को भारत में सबसे अधिक उदार और प्रगतिशील देखा और वे इसी की ओर आकर्षित हो गए—फलतः कांग्रेसियों ने गांधी से जितना हो सकता था लाभ उठा लिया। आंशिक रूप से वे गांधी के देव पूजन में सम्मिलित हो गए। अछूतों को उन्होंने समाज में पास बैठा लिया कांग्रेस पढ़े लिखों की जमींदराजी की वस्तु न रह कर जनयुद्ध की संस्था बन गई। मुसलमान भी उसमें चाहे जिस स्वार्थ से हो आ गए। लड़ाई हुई, भारत में नहीं, योरोप में और योरोपियन राष्ट्रों के दमखम ढीले पड़ गए। अंग्रेजों को अपनी पगड़ी सम्हाल कर यहाँ से बसता बोरिया बाँधना पड़ा और गांधी के बल से बली कांग्रेसियों ने जिद्दी मुसलमानों को पाकिस्तान का टुकड़ा फेंक, शेष भारत अपने अधिकार में ले लिया।

उधर इन दक्षिण के ब्राह्मणों ने धीरे-धीरे हिन्दू महासभा के सूने सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। भारत के सभी तेजस्वी हिन्दू कांग्रेस में आ जुटे थे। ये हिन्दू सभाई सड़े गले हिन्दुओं को जैसे तैसे एकत्र कर टीप-टाप करते रहे। परन्तु उनके कार्यों में प्रगति न थी। उनमें तिलक जैसा प्रभावशाली व्यक्ति अब कोई न था। वे मुसलमानों को तो फूटी आँख देख ही नहीं सकते थे—अछूतों को भी पास बैठाने में कतराते थे। सभी प्रांतों के कट्टर नेता उनके पीछे आ जुटे। गान्धी ने हिन्दू घर में जन्म लिया था। वे गीता के उपासक थे, हिन्दू आचार पालते थे—फिर भी वे गान्धी जी इन हिन्दू महासभाइयों से दूर रहे। जिन्ना के नेतृत्व में अंग्रेजों के चले जाने पर मुसलमानों ने तो पाकिस्तान ले लिया। पर ये हिन्दू सभाई ब्राह्मण नेता हिन्दू पेशवा राज्य का सुपना ही देखते रहे। कांग्रेसियों ने इनकी बात भी न पूछी और भारत की राज्य सत्ता अपने राष्ट्रीय दल के हाथ में ले ली।

इन महासभाई हिन्दू नेताओं को खिझाने के लिये इतना ही यथेष्ट

था। मुसलमान पाकिस्तान लेकर यदि पाकिस्तान चले जाते, या पाकिस्तान में हिन्दुओं को आराम से रहने देते तो भी ठीक होता। पाकिस्तान में उन्होंने ऐसा खून बहाया जैसा आज तक मानव जाति के इतिहास में कभी बहा ही न था। वहाँ न केवल हिन्दू लूट ही गए—अपितु उनकी बहू-बेटियों को क्रूर आघात और लांछनाएँ सहनी पड़ीं। वे बेघर-बार बनाकर खाना बदोशों की भाँति वहाँ से खदेड़ दिए गए, उधर भारत में बसे मुसलमानों को कांग्रेस ने अभय दान दे दिया। उनके लिए कृपा और रियायतों का दरिया बहा दिया। भारतीय शासन में उन्हें बराबर का आसन दिया। तिस पर भी गान्धी पाकिस्तान पर, मुसलमानों पर क्रुद्ध नहीं हुए। वे बराबर उनके प्रति वैसा ही सम भाव बनाए रहे जैसे कहीं कुछ हुआ ही नहीं है।

यह स्वाभाविक था कि इन हिन्दू सभाई लोगों का इससे खून खौलने लगता। वे अधीर हो उठते। वे गांधी को हिन्दू हितों का कट्टर शत्रु समझते। और ऐसा ही हुआ।

इतिहास बताता है, हिन्दुओं ने विपक्षियों पर कभी दया नहीं की। धार्मिक जुनून के अत्याचार करने में वे ईसाइयों और मुसलमानों से पीछे न रहे। इसी जुनून और गुस्से में आपे से बाहर होकर दक्षिण के एक चित्पावन ब्राह्मण ने साहस करके गांधी को मार डाला !!!

गांधी मर गए। उनका वह नन्हा देवता असहाय बीच मार्ग धूल में पड़ा रह गया। कांग्रेसी न उसकी पूजा कर सके, न प्रतिष्ठा, न उसे मन्दिर में रख सके। राज्यसत्ता हाथ में आते ही उनके मिज़ाज ठिकाने लग गए। वे अपनी राष्ट्रीयता की उलझन में फँसते चले गए। जो सच पूछा जाय तो झूठी, मुलम्मे की थी। सच्ची ठोस न थी। मैं कह ही चुका हूँ कि यह राष्ट्रीयता और देशभक्ति अंग्रेजों की लाई हुई थी। योरोप के राष्ट्रों ने ही अपने राष्ट्रीय गुट्ट बनाए थे, पर वे ठोस थे। सब जर्मन एक, सब अंग्रेज एक, सब फ्रेन्च एक, सब इटेलियन, नार्वियन, डच, स्काच, एक

सबका खान-पान एक, सबका बेटी व्यवहार एक, सबकी जाति एक, सबका धर्म एक। ये सब राष्ट्र अपने २ राष्ट्रीय स्वार्थों के बाहर सम्मिलित रूप में रोटी-बेटी में एक।

परन्तु यह कांग्रेसियों का भारतीय राष्ट्र तो ऐसा नहीं था। हिन्दू अलग, मुसलमान अलग, पारसी, जैनी, सिख, पठान सब अलग, अधिक से अधिक प्रान्तीयता की दीवारें नीची हुई—पर जड़ बुनियाद तो क़ायम ही रही—महाराष्ट्र, दक्षिण, बंगाल, पंजाब उत्तर प्रदेश—स्वतन्त्र और प्रथक राजनैतिक ही नहीं सांस्कृतिक भिन्नता भी रखते थे। इन सब भिन्न २ संस्कृति और दृष्टि वाले गुट्टों को लेकर कांग्रेस ने केवल राजनैतिक स्वार्थ की चासनी चटाकर एक मंच पर ला बैठाया और उसी को अपना राष्ट्रीय संगठन मानने लगे। पर उनके मुँह पर करारा तमाचा तब पड़ा जब उन्हें विभाजन स्वीकार करना पड़ा। मातृ भूमि को, जिसकी वे चरण पूजा करते थे जिसे माँ कहते नहीं थकते थे, टुकड़े करके मुसलमानों को बाँट दिया जैसे पिता की जायदाद-मकान बट जाते हैं, आँगन में दीवारें खिंच जाती हैं।

योरोप की राष्ट्रीयता का दिवाला तो गत दोनों महायुद्धों में निकल ही चुका था। और अब सम्पूर्ण योरोप एक सम्मिलित राष्ट्र होने की बात सोच रहा था। तब यह झूठा-पोला भारतीय राष्ट्र कहाँ रह सकता था। कांग्रेसियों के किए कुछ नहीं हुआ और वे इतने प्रयत्न कष्ट, कुर्बानियों, और रक्तपात के बाद भारत के स्वतन्त्र होने पर भारत में जन-राज्य कायम न कर सके। 'गणराज्य' का उन्हें गठन करना पड़ा। जिसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेसी सरकार विरोधी तत्वों से घिर गई और अब उसकी वह शक्ति जो जनता की भलाई और आराम के लिए खर्च करनी चाहिए थी उसे इन गुट्टों को सम्हालने, उनके विरोधी तत्वों का सामना करने में खर्च हो रही है। देश में भूखमरी अशान्ति, अव्यवस्था, चोरबाज़ारी और अनैतिकता बढ़ती जा रही है, यदि तीसरा विश्व युद्ध छिड़ गया तो भारत में वह अराजकता फैल जायगी जिसे संसार की कोई शक्ति आधी शताब्दी तक भी शमन न कर सकेगी।

यदि कांग्रेसी राष्ट्रीयता के फेर में न पड़ते। गांधी जी के देवता 'मनुष्य' की पूजा प्रतिष्ठा करते तो भारत में 'जनराज्य' की स्थापना होती। फिर भारत के सिंहासन पर से आहत और अशान्त राष्ट्रवादी योरोप, पूँजीवादी अमेरिका और रक्त में विश्वास रखने वाले सोवियट संघ को 'सर्वजन सुखाय' सर्वजन हिताय' का संदेह देता। सारे संसार के मनुष्यों को सुखशान्ति और अभय प्रदान करता।

गान्धी का देवता 'मनुष्य' है। मनुष्य दुनिया की सबसे बड़ी इकाई है। यह जो भूखा, नंगा, अपाहिज, हत्यारा, कोढ़ी कलंकी, रोगी, जर्जर, दीन-हीन मलमूत्र में लतपथ, घिनौना आदमी आपके सम्मुख खड़ा है। यही गांधी का देवता है। गान्धी ने इसकी पूजा की। पूजा का स्वरूप था अहिंसा, सत्य, अहिंसा।

यहीं एक बात मैं आपको बतला दूँ। गान्धी का यह देवता भी भारतीय नहीं है। अंग्रेजों की भाँति वे भी उसे विदेश से भारत में लाए हैं। इस देवता की कहानी भी मनोरंजक है सुनिए—मैंने पीछे बताया है कि किस प्रकार अमेरिका में उपनिवेश बनाकर अंग्रेजों ने अफ्रीका के हबशियों को पकड़-पकड़ कर वहाँ गुलाम बनाकर बेचा। गुलामों की प्रथा सारे संसार के सभ्य मनुष्यों के इतिहास में है। अमेरिका की इस दास प्रथा को बन्द किया गहरे संघर्ष के बाद अब्राहीम लिंकन ने। उन्होंने लाखों गुलामों को आजाद भी कर दिया।

यद्यपि अमेरिका की दास प्रथा बन्द कर दी गई, परन्तु योरोप के पूंजीवादी श्वेताङ्गों की दास परिग्रह की लालसा नष्ट नहीं हुई। किन्तु अब सब काले आदमियों को पकड़कर दास बनाने की जिम्मेदारी तो उन्होंने नहीं ली, परन्तु एशिया महाद्वीप में जाकर वहाँ के काले और पिछड़े हुए मनुष्यों पर प्रभुत्व स्थापन करके उनसे कच्चामाल तैयार कराना और अपने देश के कल कारखानों में पक्का माल बना उन्हीं काले आदमियों को बेचने की नीति ग्रहण की। उन्हें आधुनिक सभ्यता की लत लगा दी गई जिससे वे गोरे लोगों का

उत्पन्न किया माल खरीदने के आदी हो हो जाँय। इस प्रकार की मुक्ति से एशिया के पिछड़े हुए लोग इन पूजीवादी राष्ट्रों के एक साथ ही दास और ग्राहक दोनों बन गए। और इनके पालन-पोषण का भी कोई भार इन गोरों पर नहीं पड़ा।

पर योरोप ही में कल कारखानों के जन्म ने बड़े-बड़े नगरों को जन्म दिया और वहाँ के मनुष्यों को दो वर्गों में बाँट दिया—एक मालिक दूसरे मजदूर। मजदूरों की दुरव्यवस्था बढ़ती गई। अब वे क्रीत गुलाम तो थे नहीं गोरों के स्वजातीय ही थे। वे दुरव्यवस्था से विद्रोह कर उठे।

कार्ल मार्क्स ने उनकी ओर देखा और उसने शास्त्रीय रीति से सारे संसार के पीड़ितों के संगठन की राह बताई उन्होंने यह भी कहा कि सारे संसार के पीड़ित एकत्र होकर पीड़कों का संहार कर डालें। इस समाजवाद ने पहिली बार राष्ट्रीयता की दीवारों को उलंघन करके भिन्न २ राष्ट्रों के पीड़ितों को पारस्परिक सहानुभूति के बन्धन में बाँध दिया। योरोप की सांस्कृतिक आधार-शिला ग्रीकों की थी। ग्रीक लोगों की संस्कृति और संगठन अपने नगर तक ही था। एक नगर के लोगों का दूसरे नगर वालों से पूरा बैर था। योरोप में वह वैर परस्पर राष्ट्रों में आ जमा। एक राष्ट्र दूसरे को बैरी समझने लगा। अब भी कार्ल मार्क्स ने पीड़ित वर्ग को राह बताई, उसमें मजबूत वर्ग को पूजी वादियों के विरुद्ध एकता बद्ध कर खड़ा कर दिया, इससे राष्ट्र-राष्ट्र का विरोध पूजी पतियों और मजदूरों में आ जमा। और इसी आधार पर लेनिन ने रूस में महा क्रांति कर सोवियट संघ की स्थापना की।

इस प्रकार मार्क्स ने योरोप में प्रथम बार 'मनुष्य' देवता के दर्शन किए परन्तु सम्पूर्ण देवता के नहीं, केवल उसके चरणों के। इसके प्रथम—बुद्ध और महावीर ने इस देवता के 'मस्तक' को स्पर्श किया था। परन्तु गान्धी ने उस देवता के सम्पूर्ण दर्शन किए। और उसे अपना इष्ट देव बनाया।

भारतीय जनों को उसने उस देवता की पूजा करने को प्रेरित किया—

पर सम्प्रदाय, धर्म और राष्ट्रीयता एवं देश भक्ति के जाल में फँसे मनुष्यों ने गान्धी के देवता का प्रसाद तो चखा—पर देवता की पूजा नहीं की। फलतः भारत अंग्रेजों के चंगुल से छूटा—पर उनके लाए हुए देवता के जाल में अभी तक फँसा है, फँसकर कठिनाइयों में गिरता जा रहा है। उनका देवता "देश स्वतन्त्र हुआ" हैं, परन्तु उस देश के लोग भूखे-नंगे अरक्षित और असहाय हो गए हैं। अब मैं यह कहूँगा।

जिन्हें अपने भावी खतरे का ख्याल हो, जिन्हें अपनी भावी पीढ़ियों पर तरस हो, जिनमें विवेक, आत्मसम्मान और मानवी तत्व हो—उन्हें अब भी समय है, वे इस अपूजित देवता को फूल से उठाकर इसकी पूजा करें और सारी मनुष्य जाति का भावी संकट टालें।

———

१९

'सत्य' जनतन्त्र की सीधी राह

'सत्य' ने मनुष्य को देवता बनाया। पहिले यह मनुष्य देवता नहीं था। पशु ही था। उसने सत्य को पाया और वह देवता बन गया। हज़ारों वर्ष उसे सत्य को पाने में लगे। अपनी इच्छाओं और लालसा को लेकर वह चला। अज्ञान ने उसकी राह रोकी, भय ने उसे भयभीत किया, भूलों ने उसे भटकाया; पर वह टटोलता हुआ, रेंगता हुआ बढ़ा चला चया। उसे ठोकरें खानी पड़ी, रुकना पड़ा, बहुत बार उसकी राह खो गई। उसने पुरोहितों से, पण्डोंसे, पुजारियों से ऋषि मुनियों से, योगियों, ज्योतिषियों से, सन्त महात्माओं से सत्य की राह पूँछी—पर सभी ने उसे धोखा दिया। वह भूत-प्रेतों, राक्षसों, शैतानों, यमदूतों, के पल्ले पड़ा, राज सिंहासनों के नीचे उसे झुकना पड़ा, धर्म के आगे अन्धी श्रद्धा से झुकना पड़ा पर उसे दासता को छोड़कर और कुछ भी न मिला। अन्ततः उसने अपने मस्तिष्क का आसरा लिया, विचारना प्रारम्भ किया, उसने अपने हृदय को अपनी ही अनुभूतियों की भावनाओं से भर लिया, तब कहीं उसे वह प्रकाशमान्, ज्वलन्त 'सत्य' मिला। उसी सत्य को उसने अपना मानसिक धन बनाया। वह प्रसन्न हो गया, सुखी हो गया, सम्पन्न हो गया, सभ्य हो गया, श्रेष्ठ हो गया, पवित्र हो गया और अन्त में 'देवता हो गया।

सत्य की खोज में उसने एक बात सीखी—अपने प्रति सच्चा रहना। जब उसने इसका अभ्यास कर लिया तो उसने अपने मस्तिष्क की प्रयोगशाला में केवल अपने ही लिए संसार भर की वास्तविकताओं का परीक्षण कर डाला। बस, उसकी बुद्धि पवित्र हो गई औा उसे 'सत्य' मिल गया। वह

देवता बन गया। अपने संसार का स्वामी उसने पक्षपात, अभिमान, घृणा, और भय को अपने से दूर निकाल फेंका। झूँठ बड़ी-बड़ी पदवियाँ धारण कर, बड़ी-बड़ी शानदार वर्दियाँ पहिन बड़ी-बड़ी पगड़ियाँ सिर पर रख बड़े-बड़े धर्म और राजनीति के ग्रन्थ ले उसे अपनी राह ले जाने के लिए आया। पर उसने उसके ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा।

सत्य ने उसे अतीत की ग़लतियों से बचाया, पर्वतों की चट्टानों पर लेजाकर भूगर्भ के तत्त्व समझाए, अविद्यमान ज्वालामुखियों के भेद बताए, वह दीपों और महादीपों को लाँघता चला गया। उसने संसार के इतिहास का ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रकृति ने जो कुछ सबसे छिपा रखा था, सब कुछ उसने जान लिया। वह मरा और फिर जिया मरा और फिर जिया। सत्य उसके साथ था। उसके ज्ञान का भण्डार ज्यों-ज्यों भरता गया वह संसार में ज्ञान दान देता चला गया। दिव्य सत्ताओं, शक्तियों, देवताओं, भूत-प्रेतों, अन्धविश्वासों, ईश्वरों, के सम्बन्ध में भी उसने जो सत्य था वह कहा। युगों तक बुद्धिमानों के मुँह सिले हुए थे—वे असमंजस में पड़ गये। उसने ज्ञान की मसाल जला कर कहा—देखो तो उसकी वह मसाल खून से बुझा दी गई।

उसने कहा—हे भाइयो, मैं तुम्हारा ही हूँ। तुम्हारे ही लिए हूँ। मेरी वाणी स्वतन्त्र है, सत्य उसकी राह दिखा रहा है। खुशी से जाँच-पड़ताल कर लो। खरा-खोटा परख लो। सब कुछ खुला है, प्रकट है, छिपा कुछ नहीं है। सत्य का यही आदेश है—कुछ भी मत छिपाओ। उत्तेजना को शान्त करो, पक्षपात को छोड़ दो। बुद्धि का दिया जलाओ, देखो, देखो। तुम किसी की भय से सिर मत झुकाओ, प्रार्थना और स्तुति मत करो, अपने विचारों को सचाई से कह दो, अपने लिए सोचो। और तुम स्वयं देवता बन जाओगे। प्रत्येक मनुष्य देवता बन जा सकता है। देवता बनकर वह अपना ही कल्याण करता है। किसी दूसरे का नहीं। देवता बनकर मनुष्य अभाव और अपराध के संसार से हट जायगा। वह ऐश्वर्य

सम्पन्न हो जायगा। मद और अन्धविश्वास उसके पास नहीं फटकेंगे। वह बुद्धिमान स्वतन्त्र और शान्त ईमानदार हो जायगा। वह अपने ऊपर भरोसा करेगा और आप ही अपना ईश्वर बन जायगा।

सत्य की पूरी राह चलकर 'मनुष्य' देवता सत्य के उस छोर पर बैठा है, जहाँ गांधी उसे छोड़ गये हैं। जिसे उसकी पूजा करनी हो, वह सत्य की पूरी राह चलकर उसके निकट जाय। जो वहाँ जायगा—वह उस देवता का दास-सेवक आधीन न बनेगा। स्वयं देवता बन जायगा। सब मनुष्य देवता बन जाएँगे। जिनके विचार शुद्ध, अकपट, जीवन भयरहित, ईर्षा, द्वेष, मत्सर रहित सब मनुष्यों के मस्तिष्क ज्ञान से और हृदय प्यार से भरे हुए। सही और सच्चा गणतन्त्र यही संगठित हो सकता है। वहाँ-जहाँ गांधी का वह अपूजित देवता—सत्य की राह के उस छोर पर अकेला बैठा है।

१६

'अहिंसा' सत्य की राह दिखाने वाली पथप्रदर्शिका

तो आप सत्य की राह पर जाने को आमादा हैं, 'मनुष्य' देव की पूजा करके स्वयं 'मनुष्य देव' बनने को उत्सुक है। आप अपने समूचे मनुष्य समाज को सुखी, सम्पन्न भयहीन, और स्वच्छन्द देखना चाहते हैं। तो ठीक है जाइए सत्य की पूरी राह पार कर उस छोर पर मैं मार्ग दिखानेवाली यह छोकरी आपके साथ किए देता हूँ। घबराइए नहीं। यह उस अन्धी बुढ़िया श्रद्धा के ग्यानदान की नहीं है इसका नाम 'अहिंसा' है। गांधी को भी इसी ने सत्य की राह बताई थी।

परन्तु आपको एक काम करना होगा। सत्य की राह जाने के लिये आपको 'परिग्रह' सब त्यागना होगा। बिना परिग्रह त्यागन किए न तो आप सत्य की राह पर चल ही सकते हैं न अहिंसा का साथ आप से निभ सकता है।

तथागत बुद्ध ने कहा—हे भिक्षुओं, चार आर्ष सत्य हैं।

१—संसार में दुःख है।

२—वह आत्मा से या और किसी से नहीं, मनुष्य की भोगत्व पूजा से उत्पन्न हुआ है।

३—इस भोगत्व पूजा का पूरा त्याग ही 'मोक्ष' है।

४—इस त्याग का स्वरूप है—दूसरों से समता का व्यवहार करना।

दूसरों से समता का व्यवहार सिखाने के लिये बुद्ध ने भिक्षुओं को 'अष्टाङ्ग मार्ग' बताया वह अष्टाङ्गमार्ग यह है—

१—सम्यकदृष्टि—भोग तृष्णा ही सब दुखों की जड़ है, उस तृष्णा का विरोध करना।

२—सम्यक संकल्प—जिनसे भोग तृष्णा के विचारों को मन में न आने देना।

३—सम्यक का पात्र—भोग तृष्णा के विचारों को मन में न जमने देना और कल्याणकर विचारों को पोषण करना।

४—सम्यक-स्मृति—शरीर, मन, वेदना, और विचार का ठीक-ठीक अवलोकन करना।

५—सम्यक्-समाधि—चार ध्यानों का अभ्यास करना।

६—सम्यक्-कर्म—शुभ कर्म करना।

७—सम्यक्-वाचा—शुभ वचन।

८—सम्यक-आजीव—सादा जीवन।

सादा जीवन अष्ट मार्ग का सार है। बुद्ध ने कहा—भिक्षुओं को तीन चीवर और एक भिक्षापात्र पास रखना, एक स्थान पर वर्षावास के अतिरिक्त न ठहरना। गृहस्थों को बहुत सादगी से रहना, किसी कुत्सित उपाय से जीविका का उपार्जन नहीं करना। इस अष्टाङ्ग मार्ग पर चलने के लिए—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह की आवश्यकता पर ज़ोर दिया।

बुद्ध के जीवनकाल ही में बौद्धश्रमणों को राजाश्रय प्राप्त हो गया। राजाओं और सेठों ने उनके लिए संघ बनवा दिए। संघों में उनको आराम से रहने और खाने-पीने की पूरी व्यवस्था कर दी। अशोक ने तो भिक्षुओं को आराम से रहने की बहुत ही व्यवस्था कर दी। उसने चौरासी हज़ार विहार बनवाए। सेठों और अन्य राजाओं ने जो विहार बनवाए उनकी संख्या भी इतनी ही थी। उनमें भिक्षु स्थायी रूप से रहने लगे। परिणाम यह हुआ कि भिक्षुओं की इच्छा और अभिमान बढ़ गया। और बुद्ध संघ में दलबन्दी स्थापित हो गई। विहार में 'आरामिक' रक्खे गये। आरामिक सेवक थे। इन आरामिकों को विहार की भूमि दी जाती थी जिसका वे लगान देते थे। बेगार में सेवा करते थे। विहार के संघपति जमींदार और ये अत्यधिक कृषक थे। प्रायः आस-पास से गरीब आदमियों को खरीद

आरामिक बना दिया जाता था। ये 'क्रीत' कहाते थे—प्रारम्भ में ये दास थे, पीछे संघ से विद्रोह कर उसका विध्वंस कर राजा बन बैठे। इससे धर्म संघ बढ़ता गया। इन कारणों से संघारामों को क़िलों का रूप दिया गया। उन्हें अपने 'परिग्रह' की रक्षा करनी आवश्यक थी। इसलिए उन्होंने अपने पोषक राजाओं की खुशामदें करके उनसे संघों की रक्षा कराई गई। जैनों और बौद्धों दोनों ने राजाओं के लिए खुशामदी ग्रन्थ लिखे। उसमें चक्रवर्ती राजाओं को ३२ हजार रूपवती स्त्रियाँ रखने की आज्ञा दे दी। चक्रवर्ती राजा को उपभोग के लिये एक लाख बानवें हज़ार रूपवती स्त्रियाँ अन्तःपुर में रखने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार परिग्रहवान बनकर इन जैनों और बौद्धों के सबसे पहिले 'सत्य' का त्यागन करना और झूठ का सहारा लेना पड़ा। उनकी इन झूठी कथाओं से प्रसन्न हो राजाओं ने आरामिकों पर सशस्त्र बल प्रयोग किया। ये बौद्ध श्रमण जबर्दस्ती उनसे कर वसूल करते, और उन पर जुल्म करते—इस प्रकार 'हिंसा' की शरण लेनी पड़ी। उनकी धन सम्पत्ति बलात् छीनने से 'स्तेय' कर्म भी हुआ। इस प्रकार परिग्रहवान् होने के कारण बौद्ध जैन भिक्षुओं के चारों याम 'अपरिग्रह' अहिंसा सत्य और अस्तेय त्यागने पड़े। इसका परिणाम यह हुआ कि श्रमण संस्कृति का विनाश हो गया।

ईसा के पास एक धनी युवक आया और उसने पूछा—हे गुरु मैं चिरजीवी रहने के लिए क्या करूँ ?

ईसा ने पूछा—"तू मुझे गुरु क्यों कहता है। तू यदि सत्कर्म किया चाहता है तो ईश्वर की आज्ञाओं का पालन कर।"

युवक ने कहा—"वे आज्ञाएँ कौन सी हैं ?"

ईसा ने कहा—"हत्या न कर, परस्त्री गमन न कर, चोरी न कर, और झूँठ न बोल। सबसे प्रेम और समान से बर्त।"

युवक ने कहा—इन नियमों का पालन मैं बचपन ही से करता आया हूँ अब और क्या कमी रह गई।

ईसा ने कहा—तो जा अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर जो फल मिले वह गरीबों को बाँट दे, फिर मेरे पास आ। युवक लज्जित होकर चला गया। उसका परिग्रह बहुत बड़ा था। तब ईसा ने कहा—"सुई के छेद में से ऊँट निकल जाना संभव है, पर धनी पुरुष का स्वर्ग में प्रवेश करना संभव नहीं।

भारत के राजाओं, महाराजाओं और जमींदारों ने हिंसा पूर्वक सम्पत्ति एकत्र की। शहन्शाहिकी की परंपरा से चले आते हुए साम्राज्यवाद के वे चिह्न थे। उनकी प्रजा भूखों मरती और नंगी फिरती और ये हीरे मोतियों के कंकड़ों से खेलते थे। शराब पीना, व्यभिचार, आलस्य और अपहरण इनका धन्धा था। ये सत्य और अहिंसा के राही नहीं हो सकते थे, न गान्धी के देवता तक पहुँच सकते थे। इसी प्रकार पूंजी पति, धन दौलतवाले कल कारखानों के मालिक जब तक अपनी सब धन दौलत गरीब मजदूरों में न बाँट दें। उस राह के राही नहीं हो सकते। संसार के बड़े-बड़े धनी-जनों ने असंख्य धन दान दिया है, यह सच है। उस दान से बड़ा लोक-कल्याण हुआ है, यह भी सच हैं। परन्तु वे यदि ऐसा न करके वह धन उन श्रमिकों को अपने समान उन्नत करने में लगाते तो कहीं अधिक उचित होता। अब यदि उन्हें भी गान्धी के देवता की पूजा करनी हैं तो परिग्रह त्यागना होगा। अपनी सारी सम्पत्ति उनको बाँट देनी होगी जो सम्पत्ति विहीन हैं। या उसका उपयोग जनकल्याणी कार्यों में करना होगा। आज रूस के अमीर उमरा राजकुमार पैरिस न्यूयार्क आदि नगरों में ड्राइवरी, दरबानी करते हैं। यदि आप स्वयं परिग्रह का त्याग न करेंगे तो एक दिन आप को भी वे ही दिन देखने पड़ेंगे। इसलिए सबके साथ चलने, सबकी सेवा करने के आनन्द में सबको समान भाग लेना चाहिए। राजाओं ने अपनी राजसत्ताएँ सौंप दी हैं, अब पूँजी वादियों की बारी है कि सारे उद्योगों में उनके कार्य-कर्ताओं को श्रमभागी बनावें। इसलिए सब धनिक धन परिग्रह त्यागें, सब जन सम्प्रदायिक परिग्रह त्यागें सब शिक्षित आबाल वृद्ध राष्ट्रीय या परिग्रह

त्यागें तो अहिंसा राह बताकर उन्हें सत्य के उस छोर पर ले जायगी जहाँ गान्धी का देवता 'मनुष्य' अकेला बैठा है।

मनुष्य प्रज्ञावान् प्राणी है। अनुभव से जिस ज्ञान का विकाश होता है वह 'प्रज्ञा' कहाती है। मनुष्य अपनी 'प्रज्ञा सत्ता' ही से प्रगति करता रहा है। यह प्रगति एक मनुष्य के ज्ञान से नहीं होती। एक मनुष्य के अनुभव से उसके एक कालीन और आगे आने वाले लोग लाभ उठाते हैं इससे निरन्तर मनुष्य की प्रज्ञा समाज के विकास में सहायक होती है। और वह एक मनुष्य की नहीं—मनुष्य समाज की प्रज्ञा कहलाती हैं।

अब यदि प्रजा के साथ उसी अनुपात से अहिंसा का विकास न हो तो उस प्रज्ञा से मनुष्य को लाभ नहीं होता। उदाहरण के लिए ऐसा समझिए कि एक मनुष्य की टोली को नए प्रकार के शस्त्रों का ज्ञान हुआ—उससे उस दल ने पशुओं का शिकार किया। अब यदि उसमें अहिंसा या दया बुद्धि का उसी अनुपात में विकास नहीं होता तो वह क्रुद्ध होने पर उस शस्त्र से मनुष्यों के दूसरे दल पर उसी प्रकार घातक प्रहार करेगा जैसे पशुओं पर करता रहा है। अर्थात् प्रज्ञा से सबल मनुष्य दूसरे दुर्बल मनुष्यों को मार डालेगा। अथवा वह ईर्षा और प्रतिहिंसा वश मारकर और घातक कार्यों में ही अपनी सारी प्रज्ञा खर्च कर देगा। प्रज्ञा मनुष्य को शक्ति देगी—परन्तु प्रज्ञा के साथ अहिंसा रही तो वह शक्ति मनुष्य के लिए तारक रहेगी नहीं तो मारक। पाश्चात्य राष्ट्रों के गोरों ने अमेरिका के आदिवासियों को मार डाला, अफ्रीका के नागों को गुलाम बनाकर बेचा, एशिया को लूट कर वहाँ से धन शोषण में बड़े-बड़े जघन्य अपराध किए। यह सब क्यों? इसीलिए कि उनकी प्रज्ञा बढ़ती गई पर प्रजा ने अहिंसा का सहारा न लिया। अन्त में उनकी प्रजा उन्हीं को खा गई। बिना अहिंसा के प्रजा को लेकर चले—वह उन्हें सत्य के मार्ग से भटका कर असत्य के मार्ग पर ले गई और उन्हें लहू और लहू से भरे हुए युद्ध क्षेत्र में ला पटका।

रूस के सोवियट संघ ने दूसरा मार्ग पकड़ा। पर प्रज्ञा का साथ अहिंसा ने वहाँ भी नहीं दिया। मार्क्स ने कहा—सब पीड़ित संगठन करके पीड़कों का संहार कर डालना चाहिए—फल स्वरूप रूस की लालक्रांति हुई। जिसमें से आज पैंतीस वर्षों से झर-झर गर्म नररक्त बह रहा है। वर्लिन में इस प्रज्ञा ने काफी नर रक्त पिया जापान में पिया अब कोरिया में पी रही है।

अब तो इसका अन्त होना चाहिए? अब तो मनुष्य को अपनी प्रज्ञा अहिंसा को सौंप देनी चाहिए मार्क्स ने काँटे से काँटा निकालने की रीति बताई है। विरोध के मुकाबिले विरोध खड़ा किया है। पर यह नहीं सोचा कि काँटा निकालने के प्रयत्न में यदि काँटा निकलने से प्रथम ही काँटे की नोंक उसी में टूटकर भीतर रह जाय तो कितना कष्ट होगा। समाजवाद के काँटे से राष्ट्रीयता का काँटा निकालने का प्रयत्न किया गया। परिणाम सुखकर कहाँ हुआ। ज़ार ने जबर्दस्ती लोगों को लड़ने को भेजना चाहा, पर लोगों ने लड़ने से इन-कार कर दिया ज़ारशाही खत्म हो गई। इसी प्रकार पूंजीवाद से सहयोग त्याग दीजिए पूंजीवाद ढह जायगा और इसकी यही सीधी राह है। मेरी बात मानिए, अपरिग्रह को अपनाइए, अहिंसा का हाथ पकड़िए और सीधे सत्य की राह पर गांधी के देवता की बिरादरी में मिल जाइए।

१७

युद्ध का देवता मर गया, आओ उसे दफ़ना दें

युद्ध का देवता मर गया। लोहू और लोहा जिनका नारा था वे मरण शरण हुए। साम्राज्यवाद का महल ढह गया और उसी के साथ पूँजीसत्ता और अधिकार खत्म हो गए।

अब विराट पुरुष का जन्म हो चुका है विज्ञान और कला उसे बरासत में मिले हैं। आओ, हम उसे कर्तव्य की वेदी पर प्रतिष्ठित करके संस्कृति की सम्पदा से सम्पन्न करें, जिससे वह अपने जीवन में विश्व की सबसे बड़ी इकाई होकर मनुकुल को अभय करे।

आओ पहिले हम युद्ध के देवता को दफन करें, इस युद्ध के दैत्य को मार डालने का श्रेय 'अणु महास्त्र' को देता हूँ।

आज महत्तर युग का प्रारम्भ हो गया। महत्तर काल का यह प्रारम्भ 'अणु महास्त्र' के प्रयोग के साथ प्रारम्भ हुआ। इस 'अणु महास्त्र' के प्रयोग की विश्व पर दो प्रतिक्रियाएँ हुईं। १—जब यह निर्मम नृशंस प्रयोग जापान के दो असावधान नगरों पर किया गया तो विश्व ने इस पर तनिक भी क्रोध या घृणा नहीं प्रकट की और इस घोर नर-हत्या को उसने चुपचाप सह लिया। २—इसके प्रयोग होते ही 'युद्ध' शब्द निरर्थक हो गया।

यह 'युद्ध' यद्यपि मानव की सम्पत्ति नहीं—पशु की प्रकृति है। परन्तु मानवता के बालकाल से लेकर आज तक मानव जीवन के विकास का महत्तर आधार 'युद्ध' है। युद्ध ही में महाजातियों की चरम शक्तियाँ निहित और केन्द्रित रही हैं। 'युद्ध' ही ने जातियों को निर्माण किया है। 'युद्ध' को संक्षेप में हम मानव जीवन और उसकी सम्पदा के विकास का

आधार ही कह सकते हैं । युद्ध ही मानवीय सभ्यता का इतिहास है, 'युद्ध' मानव की सबसे बड़ी सामर्थ्य है, अतः मानव अपने जीवन के शैशव काल ही से युद्ध में अपने जीवन को लिप्त करता आया है । उसने युद्ध को इतना प्यार किया है कि आश्चर्यजनक उल्लास और वेग से उसने अपने प्राण और प्राणाधिक-पदार्थ युद्ध की भेंट किए हैं । और जिसने जितना अधिक यह किया है साहित्य ने अति पुरुष कह कर उसका कीर्तिगान किया है । परन्तु 'युद्ध' मनुष्य की सम्पत्ति नहीं पशु की प्रकृति है । फिर किसलिए पुरुष ने अपनी सम्पदा, प्राण और पौरुष इस 'युद्ध' की भेंट किए हैं । किस लिए मानुष की इस पशु-वृत्ति की कविजनों ने प्रशंसा कर करके मेदिनी को ध्वनित कर रखा है । इसका एक ही सत्य और गम्भीरतम उत्तर है—वह यह कि मनुष्य कभी भी सम्पूर्ण मनुष्य नहीं हो पाया । वह पशुत्व से थोड़ा ही विकसित एक 'प्रगतिशील पशु' रहा है, इसी से उसने अपने विकास की सारी ही प्रतिभा और प्रगति पशुत्व के इस महान् प्रतिनिधि 'युद्ध' के विकास में व्यय की है । और यह 'अणु महास्त्र' इस दिशा में उसके चरम उद्योगों का एक नूतनतम परिणाम है ।

परन्तु सम्भवतः यह मानव मस्तिष्क में चिरधिष्ठित 'युद्ध तत्त्व' का पूर्ण विराम है । इस महास्त्र के प्रादुर्भाव ने अब तक विकसित सम्पूर्ण 'युद्ध कला' को निरर्थक कर दिया है । अब मनुष्य के सामने दो ही मार्ग हैं ।—या तो वह अपने अपूर्ण मानव तत्त्व को एक बारगी ही त्याग कर सम्पूर्ण पशु बन जाये तथा इस, और इस जैसे महास्त्रों से अपना सर्वतोभावेन विध्वंस कर लें, या अपने में व्याप्त पशुत्व को एकबारगी ही निकाल फेंके, और 'पूर्ण पुरुष' होकर विश्व सम्पदाओं का निर्भय भोग करें । निश्चय ही उसे दूसरा मार्ग चुनना होगा ।

मानुष में जो रोष है यही पशुत्व का प्रतीक है । मानुष में मानुष का प्रतीक विचार है । वह जब तक 'विचार' के आधीन रहता है, 'रोष' सुप्त रहता है, परन्तु विचारहीन होते ही वह रोषाभिभूत होकर जितना

अधिक उसमें मानुष तत्त्व है, उतना ही अधिक हिंस्र बन जाता है, क्योंकि उसकी विचार सत्ता रोष की गुलाम बन जाती है।

पशु रोष में आवेशित होकर जब युद्ध करता है—तब वह अनिवार्य रूप से मृत्यु को वरण करता है। अल्प कारणों ही से वह प्राण घाती मार्ग पर चल पड़ता है, क्योंकि वह उसकी प्रकृति है। परन्तु मनुष्य ऐसा नहीं करता, वह रोषावेश में बलाबल, कारण और साधनों पर दृष्टि रखता है, पराजित होने पर वह शेष का दमन कर लेता है, इसलिए कि फिर वह बदला लेगा। यह सब वह उस विचार सत्ता के द्वारा करता है जो वास्तव में उसके मानुष तत्त्व का प्रतीक थी, परन्तु अब वह रोषाधीन हो गई है।

फिर बदला लेने की भावना तमोगुण बहुला है। इसके लिए उसे नई विरोधिनी शक्तियों को जुटाने में विकट श्रम करना पड़ता है, तथा समय पाकर वह फिर 'युद्ध' करता है। इस युद्ध में वह चाहे हारे चाहे जीते पर इच्छा और आशा जीतने की ही रखता है। कारण, प्रतिस्पर्द्धी की शक्ति के विषय में वह संदिग्ध है।

परन्तु 'अणु महास्त्र' का आज मानव मस्तिष्क पर एक बिल्कुल ही नया और अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा है, इससे वह रोष को दबाने की नहीं, अपने में से दूर निकाल फेंकने की सोचने लगा है। उसकी चेतना में स्वच्छ विचार धारा का उदय हुआ है, और अब उसके 'पूर्ण पुरुष' होने का युग आ गया है। इस युग में वह सर्वथा रोषहीन होकर विचार-सामर्थ्य से अपना संगठन करेगा। बड़े-बड़े क्रुद्धजन निरर्थक फूत्कार कर, आकण्ठ रक्त स्नान कर मरणाशरण हुए। 'लोहू और लोहा' जिनका नारा था, उनकी बेहद दुर्दशा हो गई। मानव रोष की निस्सारता विश्व ने देख ली। जातियों के भाग्य पलट गए। विश्व रेखायें बदल गईं। इन सबसे मानुष ने अब चार बातें सीखी हैं। १—विश्व के सब मनुष्य एक से हैं। वे परस्पर भाई-भाई हैं, समान हैं, अभय हैं, और विश्व की सम्पदाओं के अधिपति

हैं। २—मानव विश्व की सबसे बड़ी इकाई है। उसकी पूजा, आत्मनिष्ठा, निर्भय विश्व विचरण तथा भोग सामर्थ्य कविजनगेय वस्तु है। ३—जगत सत्य है, भूत सम्पदा मानव उत्कर्ष का साधन है। ४—'कला' और 'विज्ञान' मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क है। दोनों को विचार कौशल से एकीभूत करके उसे मानव कल्याण और मानवविभूति वर्धन में लगाना चाहिए, जिससे मनुष्य 'रोषहीन' हो।

समाप्त